प्रकाशकीय

इस कहानी-संग्रह में औरों से कुछ विशेषताएँ हैं। एक तो इसमें ऐसी ही कहानियों का संकलन किया गया है जिनका पाठक के हृदय पर सत्प्रभाव पड़े। उन्हें विविध प्रकार की कहानियों के साथ-साथ उनकी अनेकरंगिणी शलियों को भी देखने-समझने का अवसर उपलब्ध हो। विद्वान् एवं गंभीर समीक्षक श्री बाजपेयीजी ने समालोचनात्मक दृष्टि से ऊहापोह करके इनका आकलन किया है। कला की दृष्टि से इनका संग्रह किया गया है। इनमें भाषा, कल्पना, भाव, शैली, वर्णन, घटना, परिणाम आदि की दृष्टि से विशुद्धता, विचित्रता, पवित्रता, नूतनता, रमणीयता, अकृत्रिमता, चरमोत्कर्ष आदि के दर्शन होंगे। संग्रह किसी को भी निःसंकोच पढ़ने के लिए दिया जा सकता है।

इस संस्करण में आधुनिक हिन्दी कहानियों पर संपादक ने अपनी गुरु गंभीर समीक्षा भी जोड़कर इसे सर्वांगपूर्ण कर दिया है।

क्रम

—:००:—

संपादकीय

साहित्यिक 'कहानी'

आदमियों में कहानियाँ कहने और सुनने का शौक बहुत पुराना है। लड़कपन में हम लोगों ने माँ की गोद में बैठकर कभी किसी पराक्रमी राजकुमार और कभी किसी रूपवती राजकुमारी का वृत्तान्त सुना है। शायद् सृष्टि की आदिम अवस्था में भी जब लोग पढ़ने-लिखने की क्रियाओं से नितान्त अपरिचित थे, आज की भाँति ही कहानियाँ कही और चाव से सुनी जाती थीं। उन कहानियों का सीधा-सादापन ही उनका सौन्दर्य था। यह बात नहीं है कि उनमें कल्पना का अभाव था; कल्पना का आधार लेकर तो उनका जन्म ही हुआ था। उनमें मनुष्य की आकांक्षाएँ कल्पना का आवरण धारण करके किसी अनिश्चित देश और काल में सफल और तृप्त होती दिखाई देती थीं। असभ्य पुरुष चाहता था कि उसमें अपरिमित शक्ति आ जाय—इतनी शक्ति कि जितना वास्तव में प्राप्त करना असंभव है। इसी आकांक्षा को लेकर कल्पना के सहारे वह एक ऐसे बलवान् पुरुष को अपनी कहानी का नायक बनाता था, जो हिमालय पहाड़ को सात रोज तक अपनी हथेली पर रख सकता था या बहती हुई धारा को रोक सकता था। इसी प्रकार प्रत्येक कहानी की नायिका एक युवती होती थी, जो कोमलता में गुलाब के फूल से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। सहानुभूति के बल पर हमारे पूर्वजों को इसीमें संतोष और सुख मिलता था। आख्यायिकाओं की सृष्टि पहले-पहल स्वप्नों के लोक में हुई थी, किन्तु उनका विस्तार और उनकी उन्नति वास्तविकता और यथार्थवाद की ओर होती रही है। आख्यायिकाओं में जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित करने का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है।

किन्तु ये घरेलू कहानियाँ साहित्यिक आख्यायिकाओं की कक्षा में नहीं रक्खी जा सकतीं। वे परिष्कृत नहीं होतीं और उनमें कला का स्पष्ट

आभास नहीं होता। बूढ़ी नानी की कहानी और प्रसिद्ध फ्रान्सीसी कहानी-लेखक मोपासाँ की गल्पों में वही अन्तर है, जो किसी छोटे बच्चे के पलने के पास बैठकर गाई जानेवाली लोरी और विनयपत्रिका के एक ललित पद में। साहित्यिक कहानियों का प्रादुर्भाव वास्तव में प्रायः सारे संसार में १९वीं शताब्दी में हुआ, वैसे तो पंचतन्त्र की कहानियाँ पाँचवीं शताब्दी के लगभग लिखी गई थीं। अँगरेजी में चासर के पहले कई शताब्दियों से गीत कथानक में चले आ रहे थे और फ्रांस के चान्जा (Chanson) में कहानियों के रूप में ही वीरों और प्रेमियों के यश गाये जा चुके थे। १९ वीं शताब्दी में ही फ्रान्स में वैल-जैक, फ्लावर्ट और जोला ने गल्पों को कला के उच्च आदर्श तक पहुँचाया। उसी शताब्दी में रूस में डोस्टावेस्की, तुर्गनेव और टाल्सटाय ने कहानियाँ लिखकर रूसी साहित्य को महत्त्व प्रदान किया। जर्मनी में तो लोग १९वीं शताब्दी के अन्त तक साहित्यिक चेतना से वंचित से प्रतीत होते थे। गत योरोपीय महासमर के बाद ही उस देश के साहित्यिक उच्च श्रेणी की कहानियाँ तैयार कर पाते हैं। अमेरिका में हाथर्न, पो और ब्रेटहार्ट ने गल्प-लेखन का प्रारम्भ गत शताब्दी के मध्य काल के निकट किया। अँगरेजी-साहित्य में तो स्टेविन्सन और किपलिंग ने १८८० के लगभग कहानियाँ लिखने का श्रीगणेश किया।

जब हम कोई कहानी पढ़ते हैं, तब हमारे सामने अनेक चित्र उपस्थित होते हैं। कभी एक कमरे में एक नवयुवक आरामकुर्सी पर बैठकर एकान्त में कुछ सोचता हुआ दिखाई देता है, तो कभी हमें एक वृद्ध पुरुष एटलांटिक महासागर को पार करनेवाले एक जहाज की डेक पर आनेवाली आपत्तियों की चिन्ता से आकुल टहलता हुआ दिखाई देता है। गल्प-लेखक इन्हीं चित्रों को क्रिया अथवा बातचीत के द्वारा गुम्फित करके अपनी कहानी तैयार कर देता है। जितने ही स्पष्ट और भावपूर्ण (Suggestive) ये चित्र होंगे, उतना ही मनुष्य की कला की प्रवृत्ति को वे अपनी ओर आकृष्ट कर सकेंगे। चित्र ऐसा ही होना चाहिए कि उसे देखते ही आनेवाली परिस्थितियों का आभास हो जाय। जब तक वह कहानी के प्रवाह को आगे बढ़ाने में सहायता नहीं देता, वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, अनर्गल है। किसी जरूरी

काम के लिए विदेश से घर लौटते समय यदि आप रास्ते की किसी सुन्दर इमारत का निरीक्षण करने के लिए दस रोज तक रुके रह जायँ, तो बहुत-से लोग ऐसे होंगे, जो आपकी बुद्धिमत्ता स्वीकार करने में
का अनुभव करेंगे। कहानियों में चित्रण-कला के कुछ बहुत अच्छे उदाहरण मोपासाँ की रचनाओं में मिलते हैं।

कहानियों में चित्र के बाद बातचीत (सम्भाषण) का महत्त्व विचारणीय है। बातचीत के सहारे कहानी आगे बढ़ती है। सिद्धहस्त कहानी-लेखक अपने पात्रों में बातचीत कराते समय दो बातों का ध्यान रखते हैं। पहली बात यह कि वे अपने पात्रों के चरित्र और मानसिक अवस्थाओं से भली-भाँति परिचित रहते हैं। वे निश्चय रूप से जानते हैं कि अमुक पात्र किस अवस्था में क्या कहेगा और उसका आचरण क्या होगा। दूसरी बात यह कि जब दो या अधिक पात्र आपस में बातचीत कर रहे हैं, तब वे उन पर खूब ध्यान रखते हैं और बिना प्रयोजन की बातचीत में नहीं पड़ने देते। बातचीत, जहाँ तक हो सके, छोटे वाक्यों में होनी चाहिए और उसमें सुस्ती न आने देना चाहिए।

अँगरेजी के लेखक डिकैन्स, आस्टिन और आरनाल्ड-बेनेट की कहानियों में पात्रों में आपस की बातचीत का ढंग बहुत उत्तम और स्वाभाविक होता है।

कुछ कहानियों की रोचकता उनके वस्तु (Plot) में होती है। वे एक जटिल समस्या उपस्थित करके उसे असाधारण रीति से सुलझाने की चेष्टा करती हैं। अधिकतर जासूसी कहानियाँ इसी प्रकार की होती हैं। कॉनन-डायल की एक कहानी में चारों तरफ से बंद, एक कमरे में एक आदमी की हत्या हो जाती है। किस तरह से इस अद्भुत हत्याकांड का पता लगाया जाता है, यह जानकर पाठक चकित रह जाते हैं। दूसरे प्रकार की कहानियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें कहानी में कोई पेंच नहीं होता, कोई उलझन नहीं होती। एक सीधी-सी बात को लेखक अपनी करामात से जादू का असर दे देता है। अँगरेजी-लेखक स्टेविन्सन में घटनाओं को एकत्र करके एक हैरत पैदा करनेवाली कहानी लिखने की ताकत नहीं, लेकिन उसकी कहानियाँ कला की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट हैं, निहायत रोचक हैं। ऐसी

कहानियों की रोचकता बढ़ाने के लिए लेखक को अनेक प्रकार से पाठकों पर प्रभाव डालना पड़ता है; उनमें एक विशेष मानसिक अवस्था उपस्थित करनी पड़ती है। इस कार्य के लिए लेखक अपनी आवश्यकतानुसार विविध प्रकार के वायुमंडल तैयार करते हैं।

यहाँ दी गई श्री चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' में अद्भुत मादकता का उपयुक्त वायुमंडल तैयार किया गया है।

छोटी कहानियों का गद्य-कथानक-साहित्य में वही स्थान है, जो कविता में Lyric या रेखता का है। यह किसी एक भाव को लेकर लिखी जाती है और जहाँ वह भाव व्यक्त हो गया, उससे एक कदम आगे बढ़ना गल्प-लेखक के लिए पाप है। छोटी कहानी के लिए न तो भूमिका की आवश्यकता होती है—न उपसंहार की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियों को देखने से पता चलता है कि कितनी सहसा वे समाप्त हो जाती हैं।

छोटी कहानियों को दो श्रेणियों में बाँटा गया है—एक सत्तात्मक और दूसरी छायात्मक। छायात्मक कहानियाँ उन गल्पों को कहते हैं, जिनमें संसार के जड़ पदार्थों की ओर विशेष ध्यान न देकर मानसिक परिस्थितियों के विश्लेषण और चित्रण में अधिक ध्यान दिया जाता है। यदि छायात्मक का अर्थ यही है, तो यह कहा जा सकता है कि भविष्य में कम-से-कम कुछ काल तक छायात्मक कहानियों का जोर बढ़ता जायगा। शीहो, वाल्टर-डीलामेर और कैथराइन-मैन्सफील्ड ऐसे गल्प-लेखकों ने कहानियों के क्षेत्र में जो प्रयोग किये हैं, उन्हें देखते हुए यह मालूम होता है कि सत्तात्मक कहानियों की अपेक्षा छायात्मक कहानियों में कला का सूक्ष्मतर रूप प्रकट होता है। आशावादी होने के नाते हम कह सकते हैं कि आनेवाले युग में जड़ की अपेक्षा चेतन और सूक्ष्म का महत्त्व अधिक रहेगा।

हिन्दी में आज से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले मौलिक कहानियाँ उँगलियों पर गिनने के लिए भी नहीं थीं। 'सरस्वती' में बँगला-गल्पों के अनुवाद निकला करते थे, उन्हीं को पढ़कर हम सन्तोष करते थे। कुछ दिनों के बाद 'सरस्वती' और 'इन्दु' में मौलिक कहानियाँ भी प्रकाशित होने लगीं और मौलिकता की मात्रा दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। हिन्दी के लेखक अपने पैरों पर खड़ा

होना सीखने लगे और उस प्रथम प्रयास के काल में ही कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ लिख डाली गईं।

हिन्दी की कहानियों का विकास जिस काल में हुआ था, उस काल में भारतीय समाज में सुधार की ओर प्रवृत्ति हो रही थी। अँगरेजी-शिक्षा के फल-स्वरूप जहाँ एक ओर राष्ट्र में आत्मसम्मान और बहुज्ञता बढ़ी, वहीं पश्चिमी संस्कृति का उच्छृंखल अधिकार भी बढ़ा! बाहरी तड़क-भड़क से युक्त, नवीन प्रवाह में पड़कर हम अपने आपको भूलने लगे थे। अपने देश की सभ्यता, आचार-व्यवहार, रीति-नीति के प्रति पूरी उपेक्षा दिखाने लगे थे। स्वामी दयानन्द का आर्य्यसमाज पंडितों के द्वारा चाहे जितना तिरस्कृत किया गया हो और अपठित जनता उससे चाहे जितनी दूर रही हो; पर हिन्दी की कहानियों के आदि-युग में उसकी अटल छाप मौजूद है। समाज-सुधार के वे ही स्थायी उद्योग विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार आदि भिन्न-भिन्न रूपों में हमारी उस समय की कहानियों में आए हैं। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों की मीठी चुटकी लेना, गरीब जनता के साथ सहानुभूति दिखाना, सरकारी कर्मचारियों के व्यवहारों का उद्घाटन करना आदि उस समय की कहानियों के प्रधान लक्षण थे। ऐसे सामूहिक आदर्शों को ही प्रधान लक्ष्य बनाकर जो कहानियाँ उस काल में लिखी गईं, उनके लिखनेवाले आदर्शोन्मुख और सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। कहानियों के पाठकों की प्रवृत्ति भी उसी ओर अधिक हो रही थी।

इस काल की कहानियाँ स्वभावत: व्यक्ति के आदर्शात्मक और अतिरंजित चित्र ही अधिक मात्रा में अंकित करती हैं—यद्यपि समाज को सुचारु आदर्शों की ओर प्रेरित करने का प्रयास भी इस युग के लेखकों ने किया है। सुधार-काल में कलाकार का अधिकांश ध्यान सिद्धान्त-प्रचार की ओर बँट जाता है, वह मनुष्य के सत्य और यथार्थ चित्र नहीं दिखा पाता; जीवन का वह अध्ययन नहीं करता; उसकी निस्सीम बहुलता से परिचित नहीं होता; केवल आदर्श की लीक पर चलना पसंद करता है।

परन्तु सुधारों या सिद्धान्तों का दूसरा हितकर पक्ष भी है। सिद्धान्तवादी अथवा आदर्शवादी व्यक्ति के भीतर जो तीव्र भावना रहती है, उसका

भी अपना अलग महत्त्व है; वह व्यर्थ नहीं हो सकती। तत्कालीन कहानियों में जो चित्र समाज की दरिद्रता और अधःपतन से संबंध रखते हैं, वे मीठी चुटकियों और तीव्र व्यंग्यों की सहायता से बड़े ही प्रभावशाली हो गए हैं। हृदय की सच्ची, तीव्र अनुभूति मिलने के कारण तत्कालीन कहानियों को सामाजिक सुधार के लक्ष्य में अच्छी सफलता मिली। ऐसे कहानी-लेखकों के प्रवर्त्तकों में श्रीज्वालादत्त शर्मा हैं तथा प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक आदि उनके सुन्दरतम विकास हैं।

जहाँ एक ओर समाज-सुधार की प्रवृत्ति दिन-दूनी बढ़ रही थी और कहानी-लेखक भी सुधार-कार्य में सहायक हो रहे थे, वहाँ दूसरी ओर लेखकों का एक समुदाय मानव-स्वभाव और चरित्र के कुछ गंभीर पठन तथा मनन में लगा हुआ था। यह लेखक समुदाय हिन्दी में अच्छी मौलिकता लेकर आया।

बाबू जयशंकर प्रसाद के प्रवेश से हिन्दी के कहानी-क्षेत्र में युग-परिवर्तन का प्रारंभ हुआ। यद्यपि आविर्भाव-काल की दृष्टि से 'प्रसाद' जी हिन्दी के प्रथम मौलिक कहानी-लेखक ठहरते हैं; पर क्षेत्र में अकेले रहने, कम लिखने, उस समय युगधर्म का निर्वाह करनेवाले उपर्युक्त दूसरे दल के प्रमुख होने आदि के कारण, हम प्रसादजी का वास्तविक प्रवेश-काल कुछ पीछे मानेंगे। उस वर्ग के लेखकों में जब राय कृष्णदास, विनोदशंकर व्यास तथा अन्य कितने ही कथाकार आए, तब उसकी सत्ता दृढ़ हुई।

'प्रसाद' जी की कहानियाँ कुछ तो प्रतीकात्मक, कुछ कल्पना-प्रधान और कुछ चरित्र-विश्लेषण-कारिणी हैं। यहाँ जो 'पुरस्कार' कहानी प्रकाशित की जा रही है, वह भारतीय नारीत्व के आदर्श का स्वदेश-प्रेम की भावना से सुन्दर समन्वय उपस्थित करती है।

राय कृष्णदास जी भाव-भाषा के मनोरम समीकरण के लिए हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। 'अन्तःपुर का आरम्भ' पुरुषत्व और नारीत्व का मनोविज्ञान-जन्य अध्ययन है।

विनोदशंकर जी की 'विधाता' कहानी उनके हिन्दी के अभ्युदयशील भावात्मक कहानी-लेखक होने का परिचय देती है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ वे हैं, जिनमें सामयिक राजनीतिक आन्दोलन के फलस्वरूप उद्भूत सदाचार और स्वदेश-प्रेम की लहर व्याप्त मिलती है। 'उसकी माँ' ऐसी ही कहानी है।

भारतीय समाज के इस अस्थिर, परिवर्तनशील और कृति-बहुल युग की ये 'हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ' मुझे बड़ी ही समयोचित जान पड़ी हैं।

कार्तिक-पूर्णिमा, संवत् १९८७ वि०

वर्तमान हिन्दी कहानी

नए युग की हिन्दी कहानियों के संबंध में दो बातें बड़े विश्वास के साथ, बहुत ही निर्विवाद रूप में, कही जाती हैं। एक यह कि ये कहानियाँ आधुनिक पश्चिमी कहानियों से प्रभावित हैं और उन्हींके आधार पर लिखी जा रही हैं। दूसरी यह कि इन कहानियों का प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य से कोई क्रमागत संबंध नहीं है। किन्तु मुझे ये दोनों ही बातें सुविचारित नहीं जान पड़तीं और सहसा यह मान लेने का कोई कारण नहीं दीखता कि नई हिन्दी कहानियों की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है अथवा प्राचीन कथा-साहित्य से इनका कोई तात्त्विक साम्य नहीं है।

आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मेरा यह मत देश-प्रेम की किसी संकीर्ण भावना से प्रेरित होकर नहीं बनाया गया, न इसके मूल में प्राचीन-प्रियता की कोई अहेतुक धारणा ही है। साहित्यिक इतिहास के सभी विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन भारतीय कहानियाँ अपने समय के सभ्य संसार में कितना प्रभाव रखती थीं और उनका कितना ऋण संसार के कथा-साहित्य पर है। यदि आज हिन्दी कहानियाँ पश्चिम से प्रेरणा ले रही हैं तो यह पूर्ववर्ती ऋण का शोध ही माना जायगा। ऐसी अवस्था में हम बिना किसी हिचक के वास्तविक स्थिति का उल्लेख कर सकते हैं।

इन नई कहानियों का प्राचीन कहानियों से असंबद्ध होना भी सिद्ध नहीं होता, यद्यपि विषय; शैली और उद्देश्य आदि में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तन तो परिस्थिति का परिणाम है, स्वाभाविक विकास का सूचक है। भारत ही नहीं संसार के अन्य देशों के प्राचीन और नवीन कथा-साहित्य के बीच भी यही अंतर दिखाई देता है। किन्तु उसे परंपरा का टूटना या तात्त्विक संबंध-विच्छेद नहीं कहा जा सकता। फिर भी यदि कोई कहे कि आधुनिक कहानी, वह भारत की हो या किसी अन्य देश की,

प्राचीन कहानी से मूलतः भिन्न सृष्टि है, तो इसके लिए अधिक विश्वसनीय प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

हिन्दी कहानियों के वर्तमान विकास पर दृष्टि डालते ही 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रानी केतकी की कहानी' जैसी रचनाएँ सामने आती हैं जो अपने नाम से ही पुरानेपन की सूचना देती हैं। चमत्कारपूर्ण और विस्मयोद्‌बोधक प्रणाली से किसी उपदेश-विशेष की योजना अथवा किसी मार्मिक जीवन-वृत्त का उल्लेख पुरानी कथाओं की विशेषता थी। इनके अतिरिक्त कहानी की तीसरी शैली वह थी जिसमें काल्पनिक घटनावली का मुख्य आकर्षण रहता था, मार्मिकता या उपदेश की योजना भी नहीं होती थी। इस प्रकार की कहानियाँ नव-वय के बालकों के लिए अधिक उपयुक्त होती थीं और इनमें राक्षसों या परियों की प्रधानता रहती थी।

ऊपर उल्लेख की गई दोनों कहानियों में यही प्राचीन कथा-शैली पाई जाती है। संपूर्ण जीवन-वृत्त को संक्षेप में उपस्थित करने का प्रयत्न पाया जाता है। समय, स्थान और वस्तु के चयन का, वाह्य जीवन की किसी स्थिति-विशेष अथवा आंतरिक जीवन की किसी वृत्ति-विशेष या रहस्य-विशेष के उद्‌घाटन का प्रयास इन कहानियों में लक्षित नहीं होता। संपूर्ण जीवन अपनी स्थूलता में जिन तथ्यों को अभिव्यक्त करता है, उन्हें छोड़कर उसके विभिन्न अंगों, परिस्थितियों और पहलुओं की ओर ध्यान नहीं गया। कहानी के भीतर कथा-विकास के ही उपकरण न थे, कोरी वर्णनात्मक सामग्री भी जुड़ी हुई थी।

आगे चलकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके साथियों ने संपूर्ण जीवन-चर्या का पल्ला छोड़कर उसके प्रसंगों और प्रकीर्णक अंशों को अपनाया और उन्हें पृथक् वस्तु के रूप में स्वतंत्र सत्ता देकर या तो निबंध या निबंधात्मक कहानियाँ लिखीं जो विस्मयात्मक और उपदेशात्मक उपकरणों के अतिरिक्त विनोद और व्यंग्य की विशेषताएँ भी रखती हैं। इनका आकार आधुनिक कहानी के उपयुक्त है और इनमें अनावश्यक वस्तु-विस्तार भी नहीं है। 'कथा' में जो प्राचीन इतिवृत्त के ग्रहण की परिपाटी थी उसके स्थान पर सामयिक जीवन की कल्पित 'कहानी' का उदय हो चला। भूत

के स्थान पर वर्तमान काल का प्रयोग भारतेन्दु-युग की हिन्दी कहानी में ही प्रथम बार हुआ। यहीं से हिन्दी कहानी के नवीन स्वरूप का आरंभ होता है।

इस समय तक आधुनिक पाश्चात्य कहानी भी अपना निर्माण कर चुकी थी। हम कह सकते हैं कि वह भारतेन्दु-युग की कहानियों की अपेक्षा कहीं अधिक कलापूर्ण और विकसित भी थी। कहानी के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है घटना-संवलित कथानक का ऐसा प्रसार जो अपनी सीमा में एक प्रभावशाली और असाधारण जीवन-मर्म को पूरा-पूरा व्यक्त कर दे। ताने और बाने की भाँति कथा और जीवन-मर्म का एक ही में पर्यवसान हो जाना चाहिए। किसी ओर से असंगति हेर-फेर क्रम-भंग के लिए स्थान न रहे।-साथ ही सारी कहानी किसी निर्णायिक घटना-केन्द्र की ओर अनुधावित हो रही हो।

जीवन-मर्म या उद्देश्य ही कहानी का प्राण है और कथानक ही प्राण-स्थापक शरीर है, इसके अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व कहानी के लिए अपेक्षित नहीं। वर्तमान कहानी जीवन-मर्म की प्रभावशाली व्यंजना के लिए अन्य तत्त्व की भी आकांक्षा रखती है—समय और स्थान के संकलन की। किन्तु इस प्रकार तो कहानी-कला के कुछ अन्य अंग भी आवश्यक होंगे जैसे देश, काल, पात्र आदि। किन्तु जहाँ तक मूल तत्वों का संबंध है वस्तु और उद्देश्य ही कहानी के साधन-साध्य हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्राचीन युग से कहानियों का वही स्वरूप रहा है, यद्यपि शैली और विन्यास में बहुत से समयानुकूल परिवर्तन हो गए हैं।

वस्तु-चयन की दृष्टि से आज की कहानी वास्तविकता का अधिक सच्चा आभास देती है। पुरानी कहानी उद्देश्य को प्रमुख मानकर विस्मयजनक कथानक के सहारे अपनी उद्देश्य-व्यंजना कर देती थी—उपदेश दे डालती थी; किन्तु नवीन कहानी शैली, वस्तु या साधन को सजाने में अधिक व्यस्त रहती है, यद्यपि ऐसा करने में साध्य का ध्यान छूटता नहीं। सच तो यह है कि वर्तमान कहानी अधिक कलापूर्ण और विश्वसनीय रूप में अपना कार्य पूरा करती है।

वर्तमान कहानी का क्षेत्र भी अधिक व्यापक हो गया है। प्राचीन कहानी प्रायः नीति, व्यवहार और मनोविज्ञान के मोटे रहस्यों को कथात्मक पद्धति से व्यक्त करती थी और ऐसा करते हुए किसी-न-किसी अनुरंजक या विस्मयोद्बोधक कथानक को चुन लेती थी। अन्योक्ति की-सी पद्धति रहा करती थी। किन्तु नवीन कहानी साध्य को साधक से, उद्देश्य को कथानक से एकदम अभिन्न बनाकर चलती है और कभी-कभी तो जीवन-घटना ही, कहानी की वस्तु ही, अपना साध्य आप बन जाती है। घटना के मर्म में ही उद्देश्य छिपा रहता है।

मूल तत्त्वों की कमी के कारण केवल वस्तु और उद्देश्य के ताने-बाने को एक में मिलाकर कहानी तैयार कर देने की सुविधा के कारण शैली के प्रसाधन, जीवन-मर्म की महत्त्वपूर्ण योजना और इन दोनों के पारस्परिक सामंजस्य की ओर कहानी-लेखक पूरा ध्यान दिया करता है। वह किसी दैनिक जीवन की घटना और दृश्य को अपने कार्य के लिए अधिक उपयोगी समझता है, क्योंकि उससे यथार्थ की अनुभूति अधिक सरलता से हो सकती है, किन्तु कभी-कभी असाधारण घटना या संभावित कथानक की योजना भी कहानी-लेखक कर सकता है।

यह तो हुई वस्तु या कथानक की बात। उद्देश्य जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति में कहानी-लेखक का वास्तविक उत्तरदायित्व और उसकी क्षमता प्रकट होती है। दैनिक घटना को लेकर यदि नित्यप्रति का कोई दृश्य ही दिखा दिया गया अथवा किसी ऐसे तथ्य को उपस्थित कर दिया गया जिसमें न कोई सूक्ष्मदर्शिता है, न कोई तल-स्पर्शी प्रयोजन, तो ऐसी कहानी यथार्थ भले ही हो, श्रेष्ठ और स्मरणीय कदापि न होगी। जीवन-तत्त्वों की जितनी सूक्ष्म और असाधारण पहचान कहानी लेखक की होगी उसकी कला का उतना ही अधिक मूल्य होगा।

सूक्ष्मदर्शिता, अनुभव और विवेक की व्यापकता और विशालता प्राचीन समय से ही कहानीकार के साधन-संबल रहे हैं। निरर्थक या स्वल्पार्थक कहानी बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। यही कारण है कि आज की कहानियों की बाढ़ में स्थायी और स्मरणीय सामग्री थोड़ी ही है।

बहुत से नवसिखिए लेखक बिना किसी अनुभव या बहुज्ञता के प्रेम-कहानियों के क्षेत्र में कलम चलाया करते हैं, इससे कहानियों के प्रति विवेकवान् व्यक्तियों की श्रद्धा घट जाय तो आश्चर्य क्या है।

अनुभव और विवेक के संबंध में कुछ अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं; अनुभव अनेक क्षेत्रों का और अनेक श्रेणियों का हो सकता है, विवेक भी रुचि और योग्यता के अनुसार अनेक कोटियों का होता है। कहानियों में हम वर्तमान समय और समाज के अनुभवों को ही विशेष रूप से स्थान दे सकते हैं अथवा ऐसे अनुभवों को स्थापित कर सकते हैं जो मनुष्य की स्थायी विशेषताओं और प्रवृत्तियों के लिए उपयोगी हैं। जिन कहानियों का आधार जितना ही व्यापक और सार्वजनिक अनुभव होगा, उनमें उतनी ही अधिक सांकेतिकता होगी और मानव-हृदय को वह उतना ही अधिक स्पर्श करेगा।

इसी प्रकार हमारे अनुभवों का क्षेत्र मनुष्य की सद्वासनाएँ या सुप्रवृत्तियाँ भी हो सकती हैं और असद्वासनाएँ या कुप्रवृत्तियाँ भी। परिस्थिति-भेद से मनुष्य की मनोभावनाएँ भी भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करती हैं। इन सूक्ष्म भेदों का परिदर्शन भी कहानियों का विषय बन सकता है। परिस्थिति और मनोविज्ञान का चित्रण करनेवाली कहानियाँ इसी आधार पर लिखी जाती हैं। ज्ञान तो प्रत्येक क्षेत्र में एकरस है किन्तु जीवन के असदंशों या परिस्थिति के वैचित्र्यों पर बहुत अधिक ज्ञान-प्रदर्शन संभवतः अधिक उपयोगी न होगा।

ज्ञान के लिए ज्ञान या अनुभव भारतीय दृष्टि में कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं पा सका। ज्ञान का भी कुछ आदर्श या उद्देश्य होना ही चाहिए। इसलिए भारतीय दर्शनों में ज्ञान का भी परिणाम मुक्ति या आनंद ठहराया गया है। भारतीय कहानियाँ बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक चर्या अथवा परिस्थिति-चित्रण में—यथार्थवादी सृष्टि में—रुचि नहीं रखतीं। अतएव हिन्दी कहानियों में पाश्चात्य कहानियों की अपेक्षा वस्तुस्थिति या यथार्थ को छोड़कर आदर्श-स्थापना का प्रयास अधिक रहा है, यद्यपि वास्तविकता की अवहेलना करके नहीं।

कहानियों के क्षेत्र में दूसरी भारतीय प्रवृत्ति यह रही है कि उसमें कोरे कल्पनात्मक अनुरंजन की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान का अधिक संनिवेश हुआ

है। 'सहस्र रजनी-चरित्र' की-सी काल्पनिकता भारतीय कहानियों में कम देखी जाती है। तिलस्म या जासूसी प्रवृत्ति का प्रायः हमारी कहानियों में अभाव रहा है। इसके स्थान पर सांसारिक अनुभवों का अधिक उपयोग उनमें किया गया है। भारतीय कहानीकारों ने प्रेमचर्या तथा कल्पना-क्षेत्र में रमण की अपेक्षा विवेकपूर्ण जीवनानुभव को कहानियों में अधिक स्थान दिया है।

मोटे तौर पर कहानी के कथानक और उसके उद्देश्य पर ऊपर की बातें कहने के पश्चात् दोनों के सामंजस्य के प्रश्न को लीजिए। ताने-बाने की भाँति दोनों का एकरूप होना आवश्यक है, यह उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वास्तव में कहानी की वस्तु या कथा और उसके उद्देश्य या जीवन-मर्म के सामंजस्य का अर्थ है दोनों की पृथक् सत्ता का लोप हो जाना। कहानी अपने में पूर्ण हो और जीवन-मर्म भी अपने में पूर्ण हो। अथवा कहानी ही जीवन-चित्र और जीवन-चित्र ही कहानी बन जाय। दोनों का अंतर जितना ही अप्रत्यक्ष होगा, कहानी उतनी ही अधिक सफल मानी जायगी। उसका प्रभाव उतना ही स्थायी होगा।

वस्तु और उद्देश्य के इसी अभेद के कारण कहानी की व्याख्या 'अर्थपूर्ण कथानक' कहकर भी की जा सकती है। इस प्रकार कथानक ही कहानी का एकमात्र आधार रह जाता है और इसी कारण कतिपय समीक्षक कहानी को 'अनुरंजक आख्यान' भी कहा करते हैं। इस प्रकार कहानी में रूप, शरीर या शैली की ही विशेषता परिलक्षित होती है। तभी कहानी-लेखक अपनी कथा को सजाने में, उसे चित्र की भाँति रूपों-रंगों से इस प्रकार सुसज्जित कर देने में कि वह अपने मर्म की व्यंजना आप ही कर सके, अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। जिस प्रकार चित्र में सारा खेल रेखाओं और रंगों का ही होता है, सारा प्रभाव इन साधनों पर ही अवलंबित रहता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कहानी में व्यंजक और व्यंग का—कथा और उद्देश्य का—एकीकरण हो जाता है।

किन्तु कभी-कभी कुछ कहानियाँ उद्देश्य की इतनी प्रमुखता लेकर लिखी जाती हैं कि साध्य और साधन की समरूपता हो ही नहीं पाती। उद्देश्य अलग और कथानक अलग मारा फिरता है। ऐसे लेखकों को कहानी-कला

का पल्ला छोड़कर निबंध-लेखन का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार जो लेखक उद्देश्य की कुछ भी चिन्ता न कर कहानी के वेश-विन्यास में अथवा चरित्रों के उद्घाटन में या जीवनदशाओं के चित्रणमात्र में अनुरक्ति रखते हैं उन्हें उपन्यास-कला की पगडंडी पकड़नी चाहिए।

अब संभवतः कहानी की रूपरेखा थोड़ी-बहुत स्पष्ट हुई होगी, किन्तु देश-काल, चरित्र और कथा के संकलन संबंधी उपांगों की ओर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। उपांग हम इन्हें इसलिए कहते हैं कि ये कहानी के अनिवार्य अंग नहीं हैं और केवल साधन-रूप में, वास्तविकता का रंग लाने के लिए, इनका उपयोग किया जाता है। प्राचीन कहानियों में इन तत्त्वों के लिए कोई स्थान न था और वर्तमान कहानी में भी ये गौण स्थान ही रखते हैं। इसलिए मैंने आरंभ में कहा भी है कि पुरानी कथा को आधुनिक कहानी से नितांत पृथक् या विजातीय वस्तु नहीं माना जा सकता।

उपन्यास में देश-काल और चरित्र आते हैं साध्य बनकर, किन्तु कहानी में इतना स्थान कहाँ कि देश-काल और चरित्र की स्वतंत्र व्याख्या की जा सके। वहाँ तो किसी असाधारण परिस्थिति में किसी असाधारण परिणाम की ओर ले जानेवाली घटनाएँ और पात्र रहा करते हैं। कहानी में देश-काल का उपयोग उस चलित परिस्थिति की एक झाँकी दिखाने भर के लिए किया जाता है और पात्र का उपयोग भी परिणाम का साक्षात्कार कराने के निमित्त ही हुआ करता है। इससे अधिक इनका कोई उपयोग कहानी में नहीं हो सकता, और अधिकतर तो इतना भी उपयोग उनका नहीं होता। प्रायः वास्तविकता का आलंकारिक 'भार' उपस्थित करने के लिए, देश, काल और पात्र का विनियोग कहानियों में होता है।

कहानी सदैव परिणाम-प्रधान होती है और घटनाएँ ही उसका संबल हैं। इसलिए कहानी में घटनाओं का आधार तो होगा ही। कहानी में घटनाओं की योजना और उनका आकर्षण नाटक के ढंग का होता है। कहानी इसलिए गत्वर कला-सृष्टि है। उपन्यास में यह बात नहीं होती। नाटक की ही भाँति कहानी का मुख्य आकर्षण घटनाप्रगति ही है। इस कारण चरित्र-प्रधान, देशकाल-प्रधान या कल्पना-प्रधान कहानी का नाम

लेना कहानी-संबंधी तथ्य से दूर पहुँच जाना है। कहानी में प्रधान वह 'वस्तु' होती है जो आश्चर्यकारक या असाधारण 'परिणाम' या 'प्रयोजन' की सिद्धि करती है।

इसी वस्तु-योजना को अधिक-से-अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कहानी में देश-काल-संकलन का प्रयोग किया जाता है। समस्त घटना परिणाम से संबद्ध और परिणाम की ओर अग्रसर होती है। उसके उत्थान और अवसान के बीच समय और स्थान का मंथर विधान नहीं हो सकता। समय की बहुलता अथवा स्थानों की विविधता तभी आ सकती है जब कहानी की वस्तु समय और स्थान के ही आधार पर विकसित हो रही हो किन्तु यह अपवाद-स्वरूप कुछ ही कहानियों के लिए आवश्यक होगा कि कहानी का वस्तु-चित्र समय और स्थान के पायों पर खड़ा हो।

संक्षेप में आधुनिक कहानी की यही रूप-रेखा है जो क्रमशः विकसित होकर पश्चिमी साहित्य में प्रतिष्ठित हुई है। भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी कहानियाँ भी इसी पथ पर चल पड़ीं। किन्तु उन कतिपय भेदों को छोड़कर जो प्राचीन और नवीन कहानी के बीच घटित हुए थे, हिन्दी कहानी भी अपने मूल-स्वरूप से एकदम उच्छिन्न नहीं हुई। मैं तो कहूँगा कि हिन्दी कहानी अपनी प्राचीन उद्देश्य-प्रधान व्यावहारिक परंपरा के अधिक निकट रहती आई है और जब-जब उद्देश्य का विस्मरण हुआ है और कहानी अनिर्दिष्ट उद्देश्य लेकर लिखी गई है तब-तब शैली और प्रभाव दोनों दृष्टियों से उसमें शिथिलता आई है। टाल्सटाय जैसे श्रेष्ठ विचारक और जीवन-द्रष्टा ही श्रेष्ठ कहानी-लेखक भी हुए हैं। यद्यपि ऐसे लेखकों की भी कमी नहीं है जो बड़े विचारक होते हुए भी कहानी-निर्माण के कार्य में उतने दक्ष नहीं सिद्ध हुए।

अंग्रेजी कहानियों का आरंभ अंग्रेजी के उपन्यास-लेखकों ने ही किया था, इसलिए कहानी और उपन्यास के बीच का भेद बहुत दिनों तक अस्पष्ट ही रहा, किन्तु ज्यों ही कहानी की स्वतंत्र-कला का आभास मिल गया, अंग्रेजी में भी 'विशुद्ध कहानी' का निर्माण होने लगा। कला की दृष्टि से आधुनिक पाश्चात्य कहानी के सर्वश्रेष्ठ निर्माता फ्रांसीसी मोपासाँ, अनातोले

फ्रांस और रूसी तुर्गनेव, चेखव आदि लेखक हैं जिनकी कला मार्मिक और परिणामदर्शी जीवनांश को छाँट-छाँटकर प्रदर्शित करने में अत्यन्त कुशल है। ये सभी श्रेष्ठ कलाकार तो हैं ही जीवन के प्रति इनकी अगाध आस्था है, साथ ही ये मनोविज्ञान और मानव-व्यवहारों के पंडित हैं और इनमें से कुछ अपने युग के श्रेष्ठ विचारक भी हैं।

इन सब गुणों का एक साथ संनिवेश नवीन हिन्दी कहानी-लेखकों में भले ही उस मात्रा में न हो जिसमें उक्त पाश्चात्य लेखकों में है किन्तु दो बातें बहुत ही स्पष्ट हैं। एक यह कि हिन्दी में इन गुणों का विकास आशाप्रद है और यदि हिन्दी के पत्र तथा पाठक अनुवाद की चीजों को छोड़कर, और साथ ही 'सस्ती सामग्री' का तिरस्कार कर निरंतर एक विशिष्ट बौद्धिक सार की कलापूर्ण कहानियों का आग्रह करते रहें, और प्रेम-कहानियों का पिंड कुछ दिनों के लिए छोड़ दें तो हिन्दी कहानी फिर से भारतीय कहानियों की पुरातन कीर्ति प्राप्त कर सकती है। दूसरी बात यह है कि हिन्दी कहानियों में स्वतंत्र कथाशैली, स्वतंत्र विचार-दृष्टि और स्वतंत्र जीवन-चित्रण की सत्ता का अभाव नहीं है।

वर्तमान समय में, जब मशीन-पद्धति पर काती और बुनी कहानियाँ विदेश से आकर हम पर छापा मार रही हैं, और जब हिन्दी कहानी-लेखकों के संमुख प्रचुर परिमाण में आनेवाली इस विदेशी वस्तु को हिन्दी साँचा देकर खपाने में विशेष कठिनाई नहीं है, तब हिन्दी कहानीकार स्वतंत्र साधना और स्वतंत्र निर्माण के लिए क्यों और किस प्रकार उत्साहित हों? दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि संसार की मनुष्य-जाति इस समय अपना पार्थक्य दूर कर, एक-सी ही वस्तुस्थिति का सामना कर रही है। उसके सामने एक-सा ही जीवन, एक-सी ही समस्याएँ अतएव एक-सा ही समाधान उपस्थित है। ऐसी अवस्था में हिन्दी कहानियों की स्वतंत्र स्थिति को अवकाश कहाँ है और आवश्यकता भी क्या? एक ही प्रकार का प्रचार-कार्य संसार भर के कहानी-साहित्य को करना है, इस समय मौलिकता की माँग असामयिक और व्यर्थ है।

किन्तु मेरे विचार से इस प्रकार की धारणा एकदम निराधार और

भ्रामक ही नहीं, हिन्दी कहानी और साहित्यमात्र के लिए अतिशय हानिकारक भी है। संस्कृतियों का पोषण सदैव उनके मौलिक साहित्य से ही संभव है। आज के सांस्कृतिक विकास के लिए केवल प्रचारात्मक साहित्य से काम नहीं चल सकता। यदि आज मानव-संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट संपर्क में आ रही हैं और यदि समान परिस्थितियाँ सभी राष्ट्रों के सामने उपस्थित हैं तो उन राष्ट्रों की सृजनात्मिका शक्ति के पूर्ण उन्मेष द्वारा ही वे एक दूसरे के हृदय के समीप आ सकते हैं। केवल बाहरी एकरूपता तो राजनीतिक या सामाजिक परिस्थितियाँ ला सकती हैं, किन्तु सांस्कृतिक सम्मिलन और एकीकरण तो उनकी साहित्य-सृष्टियों द्वारा ही घटित हो सकता है। राष्ट्रीय मनोभावों और जीवन-स्थितियों का प्रदर्शन उस-उस राष्ट्र का साहित्य ही कर सकता है और तभी राष्ट्रीय संस्कृतियों का आदान-प्रदान और समन्वय भी संभव होगा। एक की नकल करके दूसरा राष्ट्र उसके प्रति अपना आदर-भाव नहीं प्रकट कर सकता, न नकल के द्वारा कोई दूसरी समस्या हल हो सकती है।

अनुकरण की वृत्ति ही असांस्कृतिक है और उससे राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कोई प्रश्न नहीं सुलझ सकता। हिन्दी कहानियाँ इस 'सांस्कृतिक साम्य' की मरीचिका में न अब तक पड़ी हैं, और न तब तक पड़ेंगी जब तक उनमें जीवन-शक्ति वर्तमान है। सांस्कृतिक समन्वय तो समान साहित्यिक उत्कर्ष का परिणाम है न कि साहित्यिक एकरूपता सांस्कृतिक साम्य का परिणाम। अतएव हिन्दी कहानी-लेखक अपने राष्ट्रीय अनुभव और प्रतिभा का उपयोग सदैव स्वतंत्र-लेखन में ही करेंगे।

कहानी के क्षेत्र में अनुकरण की तीन भूमियाँ हो सकती हैं—एक तो कहानी की शैली का अनुकरण, दूसरी कहानी में प्रदर्शित [illegible] या विचार-धाराओं का अनुकरण और तीसरी वास्तविक जीवनचर्या का अनुकरण। शैली का अनुकरण तो किसी प्रकार क्षम्य हो सकता है, यदि हम उनकी शैलियों को अपने काम में लाते हुए अपनी शैलियाँ भी उनके संमुख प्रस्तुत कर सकें और आदान-प्रदान के कार्य में समर्थ हो सकें।

विचार-धाराओं और जीवन-दृष्टियों की समता भी किसी हद तक

उपयुक्त कही जा सकती है, क्योंकि विचार-स्वातंत्र्य और 'समान मानवता' के इस युग में दार्शनिक समता अथवा विचार-साम्य वर्जित नहीं हो सकते; किन्तु जीवन की वास्तविक परिस्थितियों, और रहन-सहन तथा वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन-चर्या अथवा नैतिक प्रतिमानों में हम एक दूसरे की नकल किसी प्रकार नहीं कर सकते। इस क्षेत्र में नकल का अर्थ होगा हमारी स्वतंत्र-चेतना और राष्ट्रीय प्रकृति की पूर्ण उपेक्षा। साहित्य के लिए इससे बढ़कर खतरनाक दूसरी वस्तु नहीं हो सकती।

हिन्दी कहानियों में स्वावलंबन और स्वतंत्र विकास की प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पश्चिमी कहानी के विकसित स्वरूप के प्रति हम अनावश्यक रूप से लालायित नहीं हुए और धीरे-धीरे अपनी मंजिल आप ही तय करते आए हैं। भारतेन्दु के पश्चात् कुछ दिनों तक बंगाली कहानी-लेखकों का प्रभाव हिन्दी पर दीख पड़ा किन्तु प्रेमचन्द और 'प्रसाद' की कहानियों के मौलिक स्वरूप में प्रकट होते ही कुहासा-सी हमारे कहानी-क्षितिज से दूर हो गया।

कौशिक, सुदर्शन और ज्वालादत्त की कहानियाँ इस अर्थ में घटना-प्रधान और भावात्मक या सुधारात्मक ही कही जा सकती हैं कि उनके भीतर लंबे समय की योजना रहती है और पात्रों य चरित्रों का हृदय-परिवर्तन ही कहानियों का परिणाम होता है। हृदय-परिवर्तन भी किन्हीं मनोवैज्ञानिक संघर्षों द्वारा नहीं, बल्कि कहानी के सुधारात्मक आशय की पूर्त्ति मात्र के लिए। इन कहानियों का उद्देश्य जीवन के सूक्ष्म और मार्मिक पहलुओं का चित्रण न था, न इनमें परिस्थिति की वास्तविकता या मनोवैज्ञानिक गंभीरता ही थी। गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी भी बहुत अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानी के नवीन प्रतिमानों को देखते हुए विराट् या महाकथा (Epic story) कही जा सकती है।

लंबी कहानियाँ 'प्रसाद' ने भी लिखी हैं और प्रेमचन्दजी ने भी, किन्तु इन दोनों की कहानियों में 'उसने कहा था' की-सी बोझिल विशालता नहीं है। 'प्रसाद' की कहानियों में वातावरण का चित्रण विशुद्ध 'कहानी' के लिए कुछ अधिक हो जाता है, किन्तु अतीत के वे कल्पनाचित्र विशुद्ध

कहानी हैं भी नहीं। 'प्रसाद' की कहानियों में 'कहानी' की अपेक्षा वस्तु-अंकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण उनकी कहानियों में आवश्यक गत्वरता नहीं आ सकी है। अतीत को सजीव करने की चिन्ता में 'प्रसाद' घटना-सूत्र के साथ शीघ्र-गति से आगे नहीं बढ़ते, पाठकों को बिलमाते चलते हैं। उनकी कहानियाँ, इसीलिए, काव्यत्व के साथ उपस्थित होती हैं। 'प्रसाद' की कहानियों में उद्देश्य या प्रयोजन का तत्त्व उतना स्पष्ट नहीं है न उस तत्त्व से बँधी हुई घटना-शृंखला ही वेगवती है। 'प्रसाद' की कथा-शैली में पर्याप्त आलंकारिता है। सांस्कृतिक और भावनात्मक लेखन की दृष्टि से 'प्रसाद' की कहानियाँ अनुपम हैं, किन्तु विशुद्ध कहानी के सब लक्षण उनमें घटित नहीं होते।

प्रेनचन्द हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक कहे जा सकते हैं। कहानी कहने की उनकी नैसर्गिक प्रतिभा, हिन्दी में ही नहीं, आधुनिक भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। प्रेमचन्द हमें आदिम भारतीय कहानीकारों का स्मरण दिलाते हैं जिनके सभी गुण उनमें मौजूद हैं। कहा जाता है कि प्रेमचन्द मनोविज्ञान के पारदर्शी पंडित नहीं थे, किन्तु भारतीय प्रतिभा सूक्ष्म और निगूढ़ मनोगतियों या मानसिक तथ्यवाद को ढूँढ़ते रहने में विशेषज्ञता का दावा कभी नहीं करती। किन्तु मन की मार्मिक गतियों की और विशेषतः उसकी आदर्शोन्मुख प्रवाह-धारा की पकड़ प्रेमचन्द में बड़ी विलक्षण है। प्रेमचन्द की कथाशैली अतिरंजना-प्रधान है, इसलिए उसमें मनोविनोद का अंश बराबर रहता है। करुणा की अपेक्षा हास्य और व्यंग्य की भाव-सृष्टि प्रेमचन्द अधिक सफलता से करते हैं। साधारण विवेक, अनुभव की प्रौढ़ता, आत्मविश्वास, और कथा का स्वाभाविक सौन्दर्य प्रेमचन्द की ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें हिन्दी कहानियों का श्रेष्ठ निर्माता सिद्ध करती हैं। प्रेमचन्द की सामाजिक दृष्टि अतिशय उदार और तथ्यपूर्ण है।

उग्रजी हिन्दी के प्रथम और प्रमुख [illegible] [illegible]-लेखक हैं। उनकी आरंभिक उत्साहपूर्ण मार्मिक दृष्टि से जब हम उनकी परवर्ती कहानियों की आस्थाहीन दृष्टि की तुलना करते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उदीयमान लेखकों पर प्रतिकूल परिस्थिति का कैसा विघातक परिणाम पड़ सकता है, उग्रजी इसके उदाहरण हैं।

जैनेन्द्रकुमार की कहानियों से हिन्दी में एक नया उत्थान आरंभ हुआ। कला की दृष्टि में कहानी अधिक सुन्दर हो गई। एक ही दृश्य या केन्द्रीय घटना से जुड़े हुए कथानक की योजना करके समय और स्थान के संकलन का निर्वाह उन्हींकी कहानियों से आरंभ हुआ। प्रेमचन्द की कथाशैली में यह नाटकीय गुण इतना समृद्ध नहीं है। मार्मिक अवसरों और दृश्यों का चुनाव और प्रभाव की व्यंजना जैनेन्द्रजी की कहानियों में बड़ी कुशलतापूर्वक की गई है। किन्तु यह तब की बात है जब वे विचारक या दार्शनिक के रूप में ख्यात नहीं हुए थे। जब से उन्होंने यह नया बाना धारण किया, तब से उनकी कहानियों का वह समुन्नत स्वरूप बहुत ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और बिहार के श्री राधाकृष्ण हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कहानी-लेखक हैं। स्त्री लेखिकाओं में सुमित्राकुमारी, सुभद्राकुमारी, उषा देवी और चंद्रकिरण की कहानियाँ प्रभावपूर्ण और सुपाठ्य हैं। कुछ नई प्रतिभाएँ उदय हो रही हैं और कुछ अकाल अस्त हो गई हैं। कहानी की वर्तमान पत्रिकाएँ नवीन लेखकों के लिए सबसे बड़ी बाधा हैं। पत्रिकाओं का प्रतिमान निम्नकोटि का है क्योंकि उन्हें अर्धशिक्षित पाठकों के पास पहुँचना होता है। नए लेखक इस संहारक प्रलोभन से बचने के लिए उद्यत नहीं हैं। यदि यही मनोवृत्ति बनी रही तो कहानियों की दौड़ में हम विदेशों का मुकाबला और भी देर से कर सकेंगे।

हिन्दी कहानी का नवीनतम स्वरूप प्रचारात्मक है। इसमें कुछ लाभ और कुछ हानियाँ बहुत ही स्पष्ट हैं। लाभ यह है कि कहानी बहुत ही नपी तुली और अनावश्यक भार से रिक्त होती है। साथ ही यदि सामयिक जन-भावना के संघटन या स्फूर्ति-प्रदान और सामाजिक अन्याय के प्रतिशोध में सहायक होती है, तो उससे व्यावहारिक लाभ भी होता ही है। किन्तु कभी-कभी ये कहानियाँ अत्यंत संदिग्ध, एकांगी और वैयक्तिक मतों का प्रचार करने के निमित्त भी लिखी जाती हैं, विशेषकर प्राचीन इतिहास की की उद्‌घाटक कहानियाँ। मत-प्रचार का कार्य चाहे वह किसी श्रेणी का क्यों

न हो, कथा के स्वाभाविक निर्माण में सहायक से अधिक बाधक ही होता है। सबसे पहले वह हमारे अनुभव के क्षेत्र को संकुचित कर देता है। हमारी दृष्टि वास्तविक जीवन की ओर न जाकर मतवाद पर ही केन्द्रित हो जाती है और हम एक निर्णीत विचार को कहानी के सांचे में ढालने का कृत्रिम प्रयास करने लगते हैं।

हम मानते हैं कि आज का युग मतवादों और विचारों के प्रचार का युग है। कहानी-लेखक कमरे में बैठकर, पुस्तकों को पढ़कर, कहानी लिखने को बाध्य हैं। उनका संपर्क देश की जनता और परिस्थितियों से एकदम समीपी नहीं हैं। हम यह भी मानते हैं कि इन प्रतिबंधों के रहते भी कुछ बहुत ही सुन्दर कहानियाँ हिन्दी में लिखी गई हैं। कहानी का माध्यम इस प्रकार के विचार-विज्ञापन के अनुकूल भी है किन्तु जनजीवन की बहुलता, व्यापकता और जीवन के संपर्कजन्य वास्तविक संवेदन इस प्रकार की कहानी में कहाँ से आ सकते हैं? नवीनतम कहानियों में इसीलिए रचना-चमत्कार और बुद्धिवाद का प्राधान्य रहता है। प्रेमचन्द की कहानियों में जो वास्तविक जीवन-संपर्क और सहानुभूति है अथवा 'प्रसाद' की कहानियों में ऐतिहासिक कल्पना की मनोरमता के साथ मानव-स्वभाव की विविधता और परिस्थितियों का जो वैचित्र्य है, वह नवीन कहानियों में बहुत ही विरल है। यशपाल और अज्ञेय आदि हमारी नवीन कहानी के प्रतिनिधि-लेखक हैं। श्री राहुल और भगवतशरण की ऐतिहासिक कहानियां भी उल्लेखनीय हैं किन्तु इनमें उपदेशात्मक रूक्षता का दुर्गुण मौजूद है।

सागर विश्वविद्यालय,
सं० २००६ वि०

नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ

राय कृष्णदास

(जन्म-संवत्—१९४९ वि०)

कवि और कहानी-लेखक

हिन्दी में भावुकता और शैली-सौन्दर्य की सुन्दर शक्ति लेकर विकसित होनेवाले कलाकार हैं। इनकी 'साधना' आदि प्रारंभिक कृतियाँ हिन्दी में अनुपम हैं तथा बंगला के रवीन्द्रनाथ आदि की रचनाओं की याद दिलाती है। आपकी भाषा में नई गढ़न है। संवाद अथवा कथोपकथन में शैली का नवीन चमत्कार है। भाषा और भावों का ऐसा कलापूर्ण संयोग हिन्दी में कम देख पड़ता है। शब्दों और मुहावरों की बड़ी ही सुन्दर योजना आपकी विशेषता है। आचार्य पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी इनकी भावनापूर्ण रचना-शैली से अतिशय प्रसन्न थे। इनकी कहानियों में मनोविज्ञान और दार्शनिकता भी रहती है, पर इनके स्वाभाविक वर्णनों का आनंद सभी सहृदय उठा सकते हैं। यहाँ हम उनकी "अन्तःपुर का आरंभ" शीर्षक कहानी प्रकाशित कर रहे हैं जो पहले-पहल 'सुधा' की साहित्य-संख्या में छपी थी।

अन्तःपुर का आरम्भ

हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ, हूँ-ऊँ के वज्र निनाद से सारा जंगल दहल उठा।

उस गंभीर, भयावनी ध्वनि ने तीन बार, और उसकी प्रतिध्वनि ने सात-सात बार सातों पर्वत-श्रेणियों को हिलाया और जब यह हु-हुँकार शांत हुआ, तब निशीथ का सन्नाटा छा गया; क्योंकि पशु-पक्षी किसी की मजाल न थी कि जरा सकपकाता भी।

अब केसरी ने एक बार दर्प से आकाश की ओर देखा, फिर गरदन घुमा-घुमा कर अपने राज्य—वन-प्रांत—की चारो सीमाओं को परताल डाला। उसके घुँवराले केश उसके प्रपुष्ट कंधों पर इठला रहे थे। वह अकड़ता हुआ, डकारता हुआ, निर्द्वन्द्व मस्तानी चाल से उस टीले के नीचे उतरने लगा, जिस पर से उसने अभी-अभी गर्जना की थी।

उसने एक बार अपनी पूँछ उठाई। उसे कुछ क्षण चँवर की तरह डुलाता रहा, फिर नीचे करके एक बार सिंहावलोकन करता हुआ चलने लगा। उसके घुटनों की धीमी चड़मड़ भी जी दहला देनेवाली थी।

ऊपर पहाड़ी में एक गुफा थी। बहुत बड़ी नहीं, छोटी-सी ही। आजकल के सभ्य कहलानेवाले—प्रकृति से लाखों कोस दूर—दो मनुष्य उसमें कठिनता से विश्राम कर सकें; लेकिन यह उस समय की बात है, जब मनुष्य वनौकस था। कृतयुग के आरंभ की कहानी है।

गुहा का आधा मुँह एक लता के अंचल से ढका था। आधे में एक मनुष्य खड़ा था। हाँ, मनुष्य; हम लोगों का पूर्वज, पूरा लम्बा, ऊँचा पँचहत्था जवान, दैत्य के सदृश बली, मानो उसका शरीर लोहे का बना हो। उसके बाएँ हाथ में धनुष था और दाहिने हाथ में बाण। कमर में कृष्णाजिन बँधा हुआ था—मौञ्जी मेखला से। पीठ पर रुरु के अजिन का उत्तरीय था। उस खाल की दो टाँगों की—एक आगे की, दूसरी पीछे की; एक दाहिनी, दूसरी बाईं की—कैंची की गाँठ छाती के पास बँधी हुई थी; बाकी दो लटक रही थीं। चारों में खुर लगे थे। उस पूर्वज का शरीर

रोएँ की घनी तह से ढका हुआ था। सिर पर बिखरे बड़े-बड़े बाल। गहबर लट पड़ी हुई डाढ़ी, सहज गौर वर्ण, धूप, वर्षा, जाड़े से पककर तँविया गया था। शरीर पर जगह-जगह घट्ठे थे— पेड़ पर चढ़ने के, पहाड़ पर चढ़ने के, रेंगने के, घिसलने के; क्योंकि पुरातन नर की जीवन-चर्य्या के ये ही समय-यापन थे। और, एक बड़ा भारी घट्ठा दाहिने हाथ की मुट्ठी पर था—प्रत्यंचा खींचने का। अरने भैंसे की सींग का बना, पुरसा-भर ऊँचा धनुष; उसीकी कड़ी मोटी ताँत की प्रत्यंचा को खींचते-खींचते, केवल यह घट्ठा ही नहीं पड़ गया था प्रत्युत बाँहें भी लम्बी हो गई थीं। वे घुटने चूमा चाहती थीं।

उस पुरुष के पीछे थी आद्या नारी। उसकी चीतल चित्र उत्तरीय थी, और कटि में एक बल्कल। एक सुन्दरी फूली लता की टहनी सिर से लिपटी थी, और बिखरी हुई लटों में उलझी थी। कानों में छोटे-छोटे सींग के टुकड़े झूल रहे थे, हाथों में बूढ़े हाथियों के पोले दाँतों के टुकड़े पड़े हुए थे। हाँ, वे ही—चूड़ियों के पूर्वज।

वह अपने पुरुष के कन्धे का सहारा लिये उसी पर अपने दोनों हाथ रक्खे और टुड्ढी गड़ाये खड़ी थी।

पुरुष के अंग फड़क रहे थे। उसने स्त्री से कहा—"देखो! आज फिर आया—कल घायल कर चुका हूँ, तिस पर भी।"

"तब आज चलो, निपटा डालें।"

"हाँ, अभी चला।"

पुरुष अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने लगा और स्त्री ने अपना, मठारे हुए चकमक पत्थर के फलवाला भाला सम्हाला। वह उसके बगल में ही दीवार के सहारे खड़ा किया था। भाला लेकर उसने पूछा—

"'अभी चला'? मैं भी तो चलूँगी।"

"नहीं, तुम क्या करोगी? क्या तुम्हें मेरी शक्ति पर सन्देह है?"

"छी:! परंतु मैं यहाँ अकेली क्या करूँगी?"

"यहीं से मेरा खेल देखना।"

"क्यों, मुझे ले चलने में हिचकते क्यों हो?"

"नहीं, तुम्हारी रक्षा का खयाल है।"

"क्यों, आज तक किसने मेरी रक्षा की है?"

"हाँ, मैं यह नहीं कहता कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकती; पर..."

"'पर'.........?"

"मेरा जी डरता है।

"क्यों?"

"तुम सुकुमारी हो।"

आद्या का मुँह लाल हो उठा। क्रोध से नहीं, यह नये प्रकार की स्तुति थी। इसकी रमणीयता से उसका हृदय गुदगुदा उठा।

उसने मुसकरा कर पूछा—"तो मैं क्या करूँ?"

"यहीं बैठी-बैठी तमाशा देखो। मैं एक झंखाड़ लगाकर गुफा का मुँह और भी छिपाये देता हूँ। आजकल इन चतुष्पदों ने हम द्विपदों से रार ठान रक्खी है। देखना—सावधान।"

"जाओ! जाओ! आज मुझे छलकर तुम मेरे आनन्द में बाधक हुए हो—समझ लूँगी!"

"नहीं, कहना मानो। हृदय आगा-पीछा करता है, नहीं तो....."

"अच्छा, लेकिन झंखाड़ लगाकर क्या करोगे? क्या मैं इतनी निहत्थी हो गई!"—शक्ति ने मुसकरा दिया।

"तो चला"—कहकर पुरुष जब तक चले-चले, तब तक नारी ने उसका हाथ पकड़ लिया—"लेकिन देखो, उसके रक्त से तुम्हें सजाऊँगी मैं ही। और किसी दूसरे को उसकी खाल भी न लेने देना।"

"नहीं, मैं उसे यहीं उठाये लाता हूँ। अब देर न कराओ। देखो जा रहा है—निकल न जाय।"

नारी ने उत्तेजना दी—"हाँ, लेना बढ़ के।"

पुरुष ने एक बार छाती फुलाकर चीत्कार किया। सिंह ने वह चीत्कार सुना। सिर उठाकर पुरुष की ओर देखा। वहीं तनकर खड़ा हो गया और पुरुष भी तूफान की तरह उसकी ओर तीर सँधाते हुए बढ़ा।

एक क्षण में दोनों शत्रु आमने-सामने थे। सिंह टूटा ही चाहता था, कि चकमक के फलवाला बाण उसका टीका फोड़ता हुआ सन्न-न करता निकल गया। गुहा में से किलकारी की ध्वनि सुनकर पुरुष का उत्साह और भी बढ़ गया।

इस क्षण म्रियमाण सिंह दूसरे आक्रमण की तैयारी में था, कि मनुष्य ने उसे गेंद की तरह समूचा उठा लिया, और अपने पुरसे तक ले जाकर धड़ाम से पटक दिया। साथ ही, सिंह ने अपने पंजे से अपना ही मुँह नोचते-नोचते, सिर फेंकते-फेंकते ऐंठते हुए, पुनः एक हलकी पछाड़ खाकर अपना दम तोड़ दिया।

नारी गुहा-द्वार के सहारे खड़ी थी। उसका आधार शरीर लता की ओट में था। वहीं से वह अपने पुरुष का पराक्रम देख रही थी, आनंद की कर्कें लगा रही थी।

हाँ, उसी दिन अन्तःपुर का आरंभ हुआ था।

—:oo:—

पं० चतुरसेन शास्त्री

(जन्म-संवत्—१९४८ वि०)

गद्यकाव्यकार और कहानी-लेखक

आप देहली के एक प्रमुख साहित्यिक लेखक हैं। आपकी कीर्ति "अन्त-स्तल" "हृदय की प्यास" आदि पुस्तकों से अच्छी फैली। कहानियों में कथानक की चुस्ती, संवादों का सौष्ठव और मानसिक स्थितियों का चित्रण विशेष उल्लेखनीय हैं। उग्र-चित्र भी शास्त्रीजी के अच्छे होते हैं। कहीं-कहीं यथार्थ वाद के नाम पर अश्लीलता की भी छाया आ जाती है। यदि शास्त्रीजी साहित्य के महत्व को समझ कर अपनी कहानी लिखने की कला का विकास करें तो हिन्दी का हित-साधन हो सकता है। "दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी" शीर्षक उनकी श्रेष्ठ कहानी यहाँ दी जाती है।

दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी

१

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने, वह सलीमा को लेकर काश्मीर के दौलतखाने में चले आए थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ से सफेद होकर चाँदनी में बहार दिखा रही थीं। आराम-बाग़ के महलों के नीचे पहाड़ी नदी बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौन्दर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फीरोजी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुथी हुई उस फीरोजी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमखाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर, अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमर्मर के समान पैरों में जरी के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक कीमती ईरानी कालीन का फर्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ-भर नीचे धँस जाता था। सुगन्धित मसालों से बने हुए शमा-दान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे कद के आईने लगे थे। संगमर्मर के आधारों पर, सोने-चाँदी के फूलदानों में, ताजे फूलों के गुलदस्ते रक्खे थे। दीवारों और दरवाजों पर चतुराई से गूँथी हुई नागकेसर और चम्पे की मालाएँ झूल रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुएँ करीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गए थे। आज इतनी रात हो गई, अभी तक नहीं आए। सलीमा चाँदनी में दूर तक आँखें बिछाए सवारों की गर्द देखती रही। आखिर उससे स्थिर न रहा गया। वह खिड़की से उठकर, अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी। उम्र और चिंता की गर्मी जब उससे सहन न हुई, तब उसने अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी, और आप ही आप झुँझलाकर बोली—"कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूँ?" इसके बाद उसने पास रक्खी बीन उठा ली। दो-चार उँगली चलाई, मगर स्वर न मिला। उसने भुनभुनाकर कहा—"मर्दों की तरह यह भी मेरे वश में नहीं है।" सलीमा ने उकताकर उसे रखकर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता आ हाज़िर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौन्दर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में नैराश्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—"साकी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"हुज़ूर जिसमें खुश हों।"

सलीमा ने कहा—"पर तू किसमें खुश है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर में कहा—"सरकार! बाँदियों की खुशी ही क्या?"

क्षण भर सलीमा ने बाँदी के मुँह की तरफ देखा—वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था!

सलीमा ने कहा—"मैं क्या तुझे बाँदी की नज़र से देखती हूँ?"

"नहीं, हज़रत की तो लौंडी पर खास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास, झिझकी हुई और एकान्त में क्यों रहती है? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ! अपनी तकलीफ मुझसे तो कह प्यारी साकी!"

इतना कहकर सलीमा ने उसके पास खिसककर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गई; पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा—"कसमिया! तू अपना दर्द मुझसे कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर से कहा—"हुजूर क्यों इतनी उदास रहती हैं?"

सलीमा ने कहा—"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसी से तबीयत जरा उदास रहती है।"

बाँदी—"सरकार! प्यारी चीज न मिलने से इंसान को उदासी आ ही जाती है। अमीर और गरीब, सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा—"समझी; अब तू किसी को चाहती है? मुझे उसका नाम बता, मैं उसके साथ तेरी शादी करा दूँगी।"

साक़ी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आँख मिलाकर कहा—'मैं आपको चाहती हूँ!'

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कम्पन नहीं देखा। बाँदी ने वंशी लेकर कहा—"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा—"ठहर, कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटकती चाँदनी का लुत्फ उठाने दे, और वे फूल-मालाएँ मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन पहले एक ग्लास शरबत दे, बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"उफ् यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार!"

"अच्छा, इसमें थोड़ा-सा इस्तम्बोल और मिला।"

साकी ग्लास लेकर दूसरे कमरे में चली गई। इस्तम्बोल मिलाया, और भी एक चीज मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा—"अच्छा, अब सुना। तूने कहा था कि मुझे प्यार करती है; सुना, कोई प्यार का गाना सुना।"

इतना कह और ग्लास को गलीचे पर लुढ़काकर मदमाती सलीमा उस कोमल मखमली मसनद पर खुद भी लुढ़क गई, और रस-भरे नेत्रों से साक़ी की ओर देखने लगी। साकी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी. . ."

बहुत देर तक साकी की वंशी और कंठ-ध्वनि कमरे में घूम-घाम कर रोती रही। धीरे-धीरे साकी खुद रोने लगी। साकी मदिरा और यौवन के नशे में होकर झूमने लगी।

गीत खतम करके साकी ने देखा: सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गए हैं, और ताम्बूल-राग-रंजित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। साँस की सुगन्ध से कमरा महक रहा है। जैसे मन्द पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्ष:-स्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में, मोतियों की तरह चमक रही हैं।

वंशी रखकर साकी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा, आँखे जलने लगीं, कंठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

इसके बाद ज्यों ही उसने अचानक आँख उठाकर देखा, खुद दीन-दुनिया के मालिक शाहजहाँ खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साकी को साँप डस गया। वह हतबुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी। बादशाह ने कहा—"तू कौन है ? और यह क्या कर रही थी।"

साकी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा—"जवाब दे।"

साकी ने धीमे स्वर में कहा—"जहाँपनाह ! कनीज अगर कुछ जवाब न दे, तो ?"

बादशाह सन्नाटे में आ गए। बाँदी की इतनी स्पर्धा !

उन्होंने कहा—"मेरी बात का जवाब नहीं? अच्छा तुझे नंगी करके कोड़े लगाए जायँगे।"

साकी ने कम्पित स्वर में कहा—"मैं मर्द हूँ।"

बादशाह की आँखों में सरसों फूल उठी, उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उस तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुँह से निकला—"उफ फाहशा!" और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर नीचे को उन्होंने घूमकर कहा—"दोजख के कुत्ते! तेरी यह मजाल!"

फिर कठोर स्वर से पुकारा—"मादूम!"

क्षण-भर में एक भयंकर रूपवाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुक्म दिया—"इस मर्दूद को तहखाने में डाल दे, ताकि बिना खाए-पिए मर जाय।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथों में युवक का हाथ पकड़ा, और ले चली। थोड़ी देर में दोनों एक लोहे के मजबूत दरवाजे के पास आ खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चाभी निकालकर दरवाजा खोला, और कैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच कैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे को धसकने लगी!

२

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई। चौंककर उठ बैठी। बाल सँवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बन्द थीं। सलीमा ने पुकारा—'साकी! प्यारी साकी! बड़ी गर्मी है, जरा खिड़की तो खोल दे। निगोड़ी नींद ने तो आज गजब ढा दिया। शराब कुछ तेज थी।"

किसी ने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने जरा जोर से पुकारा—"साकी!"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह खुद खिड़की खोलने लगी। मगर खिड़कियाँ बाहर से बन्द थीं। सलीमा ने विस्मय से मन-ही-मन कहा—"क्या बात है? लौंड़ियाँ सब क्या हुईं?"

वह द्वार की तरफ चली! देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों हो?"

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गए?"

"जी हाँ।"

"मुझे इत्तिला क्यों नहीं की?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं?"

"जीनतमहल के दौलतखाने में।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा—

"ठीक है, खूबसूरती की हाट में जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे? तो अब जीनतमहल की किस्मत खुली?"

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली—मेरी साक़ी कहाँ है?

"कैद में!"

"क्यों?"

"जहाँपनाह का हुक्म।"

"उसका क़ुसूर क्या था!"

"मैं अर्ज नहीं कर सकती।"

"कैदखाने की चाभी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या मैं भी कैद हूँ?"

"जी हाँ!"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आए। वह लौटकर मसनद पर पड़ गई, और फूट-फूट कर रोने लगी। कुछ ठहरकर उसने एक खत लिखा—

"हुजूर! मेरा क़ुसूर माफ फर्मावें। दिन-भर की थकी होने से ऐसी बेसुध हो गई कि हुजूर के इस्तकबाल में हाजिर न रह सकी। और,

मेरी उस प्यारी लौंड़ी की भी जाँ-बख्शी की जाय। उसने हुजूर के दौलत-खाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी कुसूर किया है। मगर वह नई, कमसिन, गरीब और दुखिया है।

कनीज

सलीमा"

चिट्‌ठी बादशाह के पास भेज दी गई। बादशाह की तबीअत बहुत ही नासाज थी। तमाम हिन्दुस्तान के बादशाह की औरत फाहशा निकले ! बादशाह अपनी आँखों से परपुरुष को उसका मुँह चूमते देख चुके थे। वह गुस्से से तलमला रहे थे, और गम गलत करने को अन्धा-धुन्ध शराब पी रहे थे। जीनतमहल मौका देखकर सौतियाडाह का बुखार निकाल रही थी। तातारी बाँदी को देखकर बादशाह ने आग होकर कहा—"क्या लाई है ?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज की—"खुदावंद ! सलीमा बीबी की अर्जी है।"

इतना कहकर उसने सामने खत रख दिया।

बादशाह ने गुस्से से होंठ चबाकर कहा—"उससे कह दे कि मर जाय !" इसके बाद खत में एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बाँदी लौट आई। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा धरती पर बैठ गई। उसने बाँदी को बाहर जाने का हुक्म दिया, और दरवाजा बन्द करके फूट-फूटकर रोई। घंटों बीत गए, दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा—"हाय ! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है ! इन्तजारी करते-करते आँख फूट जायँ, मिन्नतें करते-करते जबान घिस जाय, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, फिर भी इतनी-सी बात पर कि मैं जरा सो गई, उनके आने पर जाग न सकी, इतनी सजा ? इतनी बेइज्जती ?

तब मैं बेगम क्या हुई ? जीनत और बाँदियाँ सुनेंगी, तो क्या कहेंगी ? इस बेइज्जती के बाद मुँह दिखाने लायक कहाँ रही ? अब तो मरना ही ठीक है। अफसोस ! मैं किसी गरीब किसान की औरत क्यों न हुई !"

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व और दृढ़-प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों में छा गए। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और खत लिखा—

"दुनिया के मालिक! आपकी बीबी और कनीज होने की वजह से, मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज्जती पाकर एक मलिका का मरना ही मुनासिब भी है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस कदर नाचीज तो न समझना चाहिए कि एक अदना-सी बेवकूफी की इतनी बड़ी सजा दी जाय। मेरा कुसूर सिर्फ इतना ही था कि मैं बेखबर सो गई थी। खैर, सिर्फ एक बार हुजूर को देखने की ख्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रक्खे।

सलीमा"

खत को इत्र से सुवासित करके ताजे फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसी की उस पर फौरन ही नजर पड़ जाय। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अँगूठी निकाली, और कुछ देर तक आँख गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई।

(३)

बादशाह शाम की हवाखोरी को नजर-बाग में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराए हुए आए, और चिट्ठी पेश करके अर्ज की—"हुजूर, गजब हो गया! सलीमा बीबी ने जहर खा लिया है, और वह मर रही हैं।"

क्षण-भर में बादशाह ने खत पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल में पहुँचे। प्यारी दुलहिन सलीमा जमीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से रहा न गया। उन्होंने घबराकर कहा—"हकीम, हकीम को बुलाओ!" कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ देखा, और धीमें स्वर में कहा—"जहे किस्मत!"

बादशाह ने नजदीक बैठकर कहा—"सलीमा! बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाजिम था?"

सलीमा ने कष्ट से कहा—"हुजूर! मेरा कुसूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा—"बदनसीब! शाही जनानखाने में मर्द का वेष बदलकर रखना मामूली कुसूर समझती है? कानों पर यकीन कभी न करता, मगर आँखों देखी को भी झूठ मान लूं?"

जैसे हजारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से आदमी तड़पता है, उसी तरह तड़पकर सलीमा ने कहा—"क्या?"

बादशाह डरकर पीछे हट गए। उन्होंने कहा—"सच कहो, इस वक्त तुम खुदा की राह पर हो, यह जवान कौन था?"

सलीमा ने अकचकाकर पूछा—"कौन जवान?"

बादशाह ने गुस्से से कहा—"जिसे तुमने साकी बनाकर पास रक्खा था?"

सलीमा ने घबराकर कहा—"हैं! क्या वह मर्द है?"

बादशाह—"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं?"

सलीमा के मुँह से निकला—"या खुदा!"

फिर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गई। कुछ देर बाद बोली—"खाविन्द! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं; इस कुसूर की तो यही सजा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ फर्माई जाय। मैं अल्लाह के नाम पर पड़ी कहती हूँ, मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा—"तो प्यारी सलीमा! तुम बेकसूर ही चलीं?" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रखकर कहा—"मालिक मेरे! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मजा मिल गया। कहा-सुना माफ हो, और एक अर्ज लौंडी की मंजूर हो।"

बादशाह ने कहा—"जल्दी कहो सलीमा!"

सलीमा ने साहस से कहा—"उस जवान को माफ कर देना।"

इसके बाद सलीमा की आँखों से आँसू बह चले, और थोड़ी ही देर में वह ठंढी हो गई!

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे।

(४)

गजब के अँधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़ खुले। प्रकाश के साथ ही एक गम्भीर शब्द तहखाने में भर गया—"बदनसीब नौजवान! क्या होशहवास में है?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा—"कौन?"

जवाब मिला—"बादशाह।"

युवक ने कुछ भी अदब किए बिना कहा—"यह जगह बादशाहों के लायक नहीं है—क्यों तशरीफ लाए हैं?"

"तुम्हारी कैफियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा—"सिर्फ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिये कैफियत देता हूँ, सुनिए—सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी; पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा परदे में रहने लगी, और फिर वह शाहंशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा। अन्त में भेष बदलकर बाँदी की नौकरी कर ली। सिर्फ उसे देखते रहने और खिदमत करके दिन गुजार देने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगन्धित पुष्पराशि, शराब की उत्तेजना और एकान्त ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आँचल से उसके मुख का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया। मैं इतना ही खतावार हूँ। सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती।"

बादशाह कुछ देर चुप-चाप खड़े रहे। इसके बाद वह दरवाजा बन्द किए बिना ही धीरे-धीरे चले गए!

(५)

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गए। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन-रात रहते हैं। सामने नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में

सलीमा की सफेद कब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए• बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है, तो उस गम्भीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म-भेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ-साफ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी ?"

•

———

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(जन्म-संवत् १९४० वि०, निधन-संवत् १९६८ वि०)

भाषा-शास्त्रज्ञ और पंडित

गुलेरीजी की ख्याति कहानी-लेखक की हैसियत से अधिक नहीं है परन्तु जो २–३ कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं उनमें उनकी पूर्ण मौलिकता दिखाई देती है। गुलेरी जी जैसे बहुपठित विद्वान् थे, वैसे ही प्रतिभाशाली कहानी-लेखक भी थे। उनकी 'उसने कहा था' कहानी जिसे हम यहाँ प्रकाशित करते हैं, अनेक दृष्टियों से हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में है। गुलेरीजी के असमय स्वर्गवास से हिन्दी को बड़ी क्षति पहुँची है।

उसने कहा था

१

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़ों की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग, चक्करदार गलियों में, हरएक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा'[१] कहते हुए सफ़ेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने, खोमचे और भारेवालों के जंगल में राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्ताँ प्यारिए; बच जा, लम्बी वालिए। समष्टि में इसके अर्थ हैं कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिए के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने

---

१ बादशाह।

से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं?'

'मगरे में;—और तेरे?'

'माँझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरू बाजार में है।'

इतने में दूकानदार निवटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—'तेरी कुड़माई'[1] हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन वार लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ, हो गई।'

'कब?'

'कल; देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू[2] लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उडेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

२

'रामराम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ ऊपर से।

---

१ मँगनी। २ ओढ़नी।

पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखाता नहीं;—घंटे दो घंटे में कान के फाड़नेवाले धमका के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था यहाँ दिन में पच्चीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[1] करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी[2] मेम के बाग में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों? सूबेदार हजारासिंह ने मुसकराकर कहा, 'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?'

---

१ बकरा मारना। २ फ्रेंच।

'सूबेदारजी, सच है, लहनासिंह बोला, 'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ़ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।'

'उदमी[1], उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा[2] जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे[3] लगाऊँगा।

'लाड़ी होराँ को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फिरङ्गी मेम—'

'चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिये लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

---

१. उद्यमी, २ जमीन की नाप, ३ पेड़।

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम माँदे न पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे[1] नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—क्या मरने-मराने की बात लगाई है?

मरे जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कैसे—

दिल्ली शहर ते पिशौर नुँ जादिए,
कर लेणा लौंगो दा बपार मडिये,
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए—
(ओय) लाणा चटका कदुए नुँ।
कद्धू बणाया वे मजेदार गोरिये।
हुण लाणा चटका कदुए नुँ[2]॥

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे पर सारी खन्दक इस गीत में गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गयी है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहना-

---

१ नई नहरों के पास वर्ग-भूमि।

२ अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जानेवाली, लोगों का व्यापार कर ले और इजारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटाकर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मजेदार बना है। अब चटचटाकर उसे खाना है।

सिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट[1] ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

'क्यों बोधसिंह भाई, क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कठोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी[2] छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो?'

'और तुम?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरू उनका भला करे।' यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो?'

'और नहीं झूठ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—'सूबेदार हजारासिंह!'

'कौन लपटन साहब? हुकुम हुजूर' कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं।

---

१ ओवरकोट। २ कँपकपी।

इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो।' खन्दक छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा——

'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला——'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैदियों से कटे हुए बाल कहाँ से आये ?

शायद साहब शराब पिये हैं, और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उनके रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, परसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे——
'हाँ, हाँ,——वही जब आप खोते[1] पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ?——

'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले में तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मैस में लगायेंगे।—'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो दो फुट के तो होंगे ?"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पीया ?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कह कर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?'

४

'होश में आओ। कयामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है ?"

'क्यों ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा[२] 'साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होराँ कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो,

---

१ गधे। २ सुसरा (गाली)।

एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी वहुत न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।' 'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'ऑख ![१] मीन गौट्ट' कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीन कर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्च्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब ? मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान

---

१ हाय ! मेरे राम (जर्मन)।

खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं। और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानों जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की ताबीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[1] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो; सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—

साहब के जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया "क्या है?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया", और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधों। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

---

१ खटिया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे—

अचानक आवाज आई "वाह गुरूजी की फतह! वाह गुरुजी का खालसा!!" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरूजी दी फतह! वाह गुरूजी दा खालसा! सत श्री अकाल पुरुख!!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाण भट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कह टाल दिया कि थोड़ा घाव है सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे।

यह देख लहना ने कहा—

"तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं। देखते नहीं मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा 'तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?'

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। 'वजीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

* * * *

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसा ही पूछा तो उसने कहा, "हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?"

"वजीरासिंह पानी पिला दे।"

* * * *

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढ़ें[1] में से निकलकर आया। बोला—लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं जा मिल आ। लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों

---

१ जनाने

में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा, असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं'।

"तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

*　　*　　*　　*

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[1] की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया," सूबेदारनी रोने लगी। "अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[2] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह पानी पिला'—'उसने कहा था'।

*　　*　　*　　*

---

१ स्त्रियों। २ अन्दर का घर।

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

'कौन ? कीरतसिंह ?'

वजीरा ने कुछ समझकर कहा, 'हाँ'।

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट[1] पर मेरा सिर रख ले।' वजीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस अबके हाड़[2] में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

* * * *

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह !

---

१ जाँघ। २ आषाढ़।

बाबू जयशंकर प्रसाद

(जन्म-संवत् १९४६ वि०, निधन—संवत् १९९४ वि०)

कवि, नाटककार, औपन्यासक और गल्प-लेखक

इनका जन्म काशी के प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज वैश्य घराने में हुआ था। इनके पिता अच्छे सम्पन्न व्यक्ति थे, इसलिए आधुनिक स्कूलों और कालेजों की पढ़ाई से अलग रहकर इन्हें घर पर संस्कृत, हिन्दी तथा अँगरेजी आदि का अभ्यास करने और अधिकार पाने की सुविधा मिली। किशोरावस्था में ये अध्ययनशील तो थे ही कृतिशील भी तभी से थे। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में सुन्दर भावव्यंजना के साथ मनोमोहनी दार्शनिकता मिलती हैं, रूपकों और नाटकों के क्षेत्र में 'प्रसादजी' के आते ही उसमें नवीन युग का आभास मिला। प्राचीन जीवन और आदर्शों का निर्वाह करते हुए, नवीन मनोभावना और चरित्र-विश्लेषण का सफल प्रयोग उनकी कृतियों में पाया जाता है। प्रसादजी की कहानियाँ भावना-प्रधान किन्तु मनोवृत्तियों की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से समन्वित होती हैं। उनके आदर्शों में भारतीयता होती है। उनकी कला हिन्दी में उन्हीं की है। यहाँ उनकी 'पुरस्कार' शीर्षक कहानी दी जाती है, जो पहले 'त्यागभूमि' पत्रिका में निकली थी।

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुन्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्क्यान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ा—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी-भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर

देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय-वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कुराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु, महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखलाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह कितना भोला सौन्दर्य ! कितनी सरल चितवन !

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटी भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव ! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।" महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध ! क्या बक रही है ? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार ! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है ; फिर कोशल का यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर !... महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है, किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है—" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—"देव ! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीरसिंह मित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—

"सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?"

"हाँ, देव!" सविनय मन्त्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर?" महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भूसम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष केचि कने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

* * * *

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे; अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निःस्पन्द। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए। परन्तु कोकिल बोल उठा। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः, कुमारी के सोये हुए सौंदर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?"

"उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान....."

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि!"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुंठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी..."

"राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूंगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

*   *   *   *   *

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आसपास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतनें लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था; ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—"दो, नहीं-नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?"

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—"क्या कहा था?" दुख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री विडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेनें के लिए विकल थी। असहाय, दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों की

रन्ध्रों से नीचे नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है वैसे ही मधूलिका 'अभी वह निकल गया।' मन-ही-मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

"कौन है यहाँ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार!"

"मधूलिका?" आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई, "इतने दिनों के बाद आज फिर!"

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने—परंतु. . . ."

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—'मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषकबालिका, यह भी एक विडम्बना है; तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

* * * *

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देने-वाला समीर तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है?"

मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवनमरण के साथी हैं भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता ? और करता ही क्या ?

"क्यों ? हम लोग परिश्रम वे कमाते और खाते। अब तो तुम।"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यों हो जाऊँ ?" अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।"

"नवीन राज्य ! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे ? कोई ढंग बताओ तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो !"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—"आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !"

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला, "तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?"

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोमल-सिंहासन पर बिठा दूँगा। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी ?"

मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी, नहीं—किन्तु उसके मुँह से निकला, क्या ?"

"सत्य मधूलिका, कोशल नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—"तुम बोलती नहीं हो?"

"जो कहोगे वही करूँगी"—मन्त्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

* * * *

स्वर्णमंच पर कोशल-नरेश अधलेटी अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचलित हो रहे हैं। ताम्बूलवाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।"

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—"स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है।"

"तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा, अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।"

"मूर्खे! फिर क्या चाहिए?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ?"

"सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना......!"

"देव! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ; तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव!" कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

* * * *

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है। आज वहाँ मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था; फिर उधर यों ही कोई नहीं जाता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। किसी को इसकी चिन्ता थी?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट में घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—'चार पहर और विश्वास करो और प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा। और मगध से निर्वासित मैं, एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके!"

"भयानक! अरुण तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ केवल सौ सैनिकों से तुम....."

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी मधूलिके!"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है?"

"अवश्य। तुम अपनी झोपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर

बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए। इसलिए रात्रि भर के लिए बिदा!"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

* * * *

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा। मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिरशत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसकी कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। 'मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया, पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़ककर कहा—"तू कौन है स्त्री? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।"

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—'बाँध लो मुझे, बाँध लो! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।'

सेनापति हँस पड़े, बोले—"पगली है।"

"पगली! नहीं यदि वही होती तो इतनी विचार वेदना क्यों होती? सेनापति! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है? स्पष्ट कह!'

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है?"

"मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

*   *   *   *

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत-वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, तब द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्निसेन! दुर्ग म कितने सैनिक होंगे?"

"सेनापति की जय हो! दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

देखते ही जनता ने रोष से हुंकार की—"वध करो!" राजा ने सबसे सहमत होकर कहा, "प्राणदंड।" मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।" वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा "मुछे कुछ न चाहिए।" अरुण हँस पड़ा, राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राणदंड मिले। कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

पं० चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

(जन्म-संवत् १९५६ वि०; निधन-संवत् १९८४ वि०)

कहानी-लेखक, उपन्यासकार और कवि

स्वर्गीय हृदयेशजी हिन्दी-कथा-क्षेत्र में अपना अलग स्थान बना रहे थे। उनकी असमय मृत्यु से हिन्दी को क्षति पहुँची। संस्कृत की कथाओं की गद्य-काव्यावली सरस और चमत्कार-पूर्ण शैली में करुण और शृंगार की चित्रण मनोरम भावना मिलाकर उन्होंने एक नई ही सृष्टि की, यद्यपि उसे वे परिपुष्ट नहीं कर पाए। उनकी भाषा और वाक्य-विन्यास कहीं-कहीं अति अलंकृत हो गए हैं, उनमें स्वाभाविकता नहीं रह गई; परंतु भाव-व्यंजन की उन्माद-पूर्ण शैली के कारण सहृदय पाठक को प्रभावित करने में उनकी कहानियाँ सफल हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि "हृदयेश" आगे चलकर अपनी शैली का परिष्कार करते और उस नई शैली के आचार्य बनते।

पर्यवसान

(१)

पश्चिम-पयोधि के सुवर्ण-रेणुमय कूल पर भगवान् अंशुमाली अपने पूर्ण प्रतापोज्ज्वल तेज से प्रोद्भासित हो रहे थे। उनके रत्नखचित कांचन-किरीट की रश्मि-राशि नर्मदा की निर्मल तरंग-माला पर नृत्य कर रही थी। सुगंध, शीतल सान्ध्य-समीर के मृदुल हिल्लोलों से महामाया प्रकृति-देवी का हरितश्यामल अंचल चञ्चल हो रहा था।

नर्मदा-तटवर्त्ती मालती-मण्डप एक अपूर्व शोभामयी रंग-भूमि में परिणत हो गया था। लताएँ आनन्द से झूम रही थीं; विहंग मण्डली मधुर स्वर से अलाप रही थी, मधुप वीणा बजा रहा था; कली चुटकी बजाकर ताल दे रही थी और नर्मदा की कलकल नादिनी धारा रस की सरिता-सी बही जा रही थी।

ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो रंग-भूमि किसी के स्वागत के लिए हर्षमयी, संगीतमयी एवं उल्लासमयी हो रही है। प्रत्येक पल्लव से प्रेम की विमल आलोकच्छटा प्रस्फुटित हो रही थी; प्रत्येक कुसुम मद का पूर्ण पात्र हो रहा था; प्रत्येक लता अपने आन्तरिक अनुराग से प्रफुल्लित हो रही थी। कोई इष्ट अतिथि को वांछित सौन्दर्य, कोई पूर्ण प्रेम पदार्पण करनेवाली थी; और प्रकृति स्वयं शृङ्गारमयी होकर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

उसी समय संध्या के उस अरुण-स्निग्ध प्रकाश में, प्रकृति के उस परम रम्य विलास में, नर्मदा के उस विमल सङ्गीत-परिहास में पश्चिम प्रान्त की ओर से चार सुन्दरी किशोरियों ने प्रवेश किया। रंग-भूमि आनन्द से उन्मत्त, हर्ष से रोमांचित एवं मद से प्रोल्लसित हो गई। वे धीरे-धीरे मन्द मातंग की गति से, उसी कोमल कुंज की ओर अग्रसर हुईं। पक्षिगण और भी उच्च स्वर से चहचहा उठे; नर्मदा की तरंगराशि और भी आनन्द से

किलोल करने लगीं; प्रकृति का श्यामल अञ्चल और भी अधिक वेग से चञ्चल हो उठा। उन चारों में की मध्यमणि निर्जन निकुञ्ज के तोरण-द्वार पर पड़े हुए विमल स्फटिक-स्वच्छ शिलाखण्ड पर विराज गई, और शेष तीनों में से एक उसके दक्षिण-देश में, दूसरी उसके वाम-पार्श्व में और तीसरी उसके सम्मुख-प्रान्त में खड़ी हो गई। निकुञ्ज आनन्द से प्रदीप्त हो उठा।

वह एक अपूर्व दृश्य था। मानों आराधना, साधना एवं सिद्धि के मध्य में महामाया की विमल आनन्दमयी अक्षय ज्योति प्रोद्भासित हो रही थी; मानो विलास-श्री आनन्द की आभा एवं वैभव की विभा के मध्य में सौन्दर्य की सजीव शोभा विलसित हो रही थी; मानो कल्पना, चिन्ता एवं अनुभूति के मध्य में कविता की कलित कान्ति स्फुरित हो रही थी; मानो ताल, लय एवं मूर्च्छना के मध्य में मूर्त्तिमती वसन्त-रागिनी सरसित हो रही थी; मानो स्वर्ग की शोभा पृथ्वी की श्री एवं रसातल की रमणीयता के मध्य में साक्षात् राजराजेश्वरी महामाया—त्रैलोक्य-सुन्दरी देदीप्यमान हो रही थीं। कैसा पावन, कैसा प्रोज्ज्वल, कैसा मनोरम एवं कैसा शान्तिमय सजीव चित्र था।

सामने तरंगित हो रही थी निर्मल विन्ध्य-नन्दिनी नर्मदा; गगनप्रान्त में प्रवाहित हो रही थी अरुण रागमयी सान्ध्यसरिता; एवं उन चारों की सम्मिलित सौन्दर्य-श्री से कल्लोलित हो रही थी शृङ्गार की रस-तरंगिणी।

विमल शिला-खण्ड पर आसीन थीं अनूप कुमारी जयन्ती और उनके इधर-उधर खड़ी थीं उनकी तीन सखियाँ—श्यामा, शारदा एवं रत्नमाला।

राजकुमारी जयन्ती ने कहा—"श्यामे, आज सान्ध्य-श्री की इस स्निग्ध आभा में प्रकृति का यह परम पवित्र सौन्दर्य और भी प्रोज्ज्वल हो गया है।"

श्यामा—हाँ राजकुमारी, ठीक वैसे ही देदीप्यमान हो रहा है, जैसे सहज स्नेह की स्निग्ध सुषमा से तुम्हारा चन्द्र-निन्दक मुख-मण्डल सदा प्रदीप्त रहता है।"

राजकुमारी—"शारदे, माधवी लता की यह विकास-लीला भी कैसी ललित, शान्त एवं आमोदमयी है। मानो आन्तरिक आनन्द का सजीव उदाहरण है।"

शारदा—"हाँ राजकुमारी, ठीक वैसे ही, जैसे तुम्हारे कमलनयनों की शोभा अनुराग से अरुण, करुणा से कोमल एवं सरलता से सदा पवित्र रहती है।"

राजकुमारी—"तुम दोनों तो जैसे कवि-सी हो गई हो। पर रत्नमाले! तुम्हीं देखो, नर्मदा की यह कलकलमयी तरंग-माला कैसा अनन्त आनन्द-संगीत गाती हुई अपने उद्दिष्ट पथ पर निरंतर प्रधावित हो रही है।"

रत्नमाला—"हाँ राजकुमारी, तुम्हें यह प्रेम का रसमय राग सुना रही है। तुम्हें बता रही है कि मैं जैसे आनन्द-रागिनी गाती हुई अपने प्रणय-पात्र सागर की ओर अविश्रान्त गति से प्रवाहित हो रही हूँ वैसे ही एक दिन तुम्हारे हृदय की प्रकृति उद्दाम गति से किसी महाभाग प्रेमी की ओर प्रधावित होगी। वह मानो तुम्हारे यौवन-वन में शीघ्र ही गूँजनेवाली वंशी-ध्वनि की मंगलमयी सूचना दे रही है; वह मानो तुम्हारे कान्ति-कुञ्ज में गाई जानेवाली कविता की आदि कल्पना का आभास-सा दे रही है; वह मानो हमारे हृदयों की अभिलाषा को स्पष्ट रूप में उद्घोषित कर रही है।"

राजकुमारी—"हो सकता है रत्नमाले; पर जानती हो, मैंने अपने परमाराध्य हृदयेश्वर के स्वरूप की क्या कल्पना की है?

तीनों सखियाँ—"नहीं राजकुमारी, उसे सुनाने की कृपा कीजिए।"

राजकुमारी—"सुनो, जिसके मधुर अधर पर इसी प्रस्फुटित पुष्प का-सा सरल, मन्द हास्य नृत्य करता होगा—जिसके लोचन-कमलों से दया, प्रीति और आनन्द की सम्मिलित-त्रिवेणी प्रवाहित होती होगी—जिसके मुख-चन्द्र पर प्रकृति और आत्मा का समस्त सौन्दर्य, संध्या और उषा का विमल-ललित लावण्य एवं स्वर्ग और मर्त्य का सम्पूर्ण प्रकाश प्रति-फलित होता होगा—जिसका हृदय कविता की-सी मधुरता, चिन्ता की-सी

पवित्रता एवं कल्पना की-सी आलोकमाला से प्रोद्भासित रहता होगा; वही मेरा हृदयेश्वर होगा। उसी के चरण-तल में मेरा यह तुच्छ शरीर, मेरा यह साधारण यौवन, सादर सस्नेह एवं सानन्द समर्पित होगा। यदि वह मर्त्यलोक में न मिला, तो मैं उसे स्वर्ग के नन्दन-वन में ढूँढ़ूँगी, और यदि वहाँ भी उसका कान्त दर्शन न प्राप्त हुआ, तो आत्मा के तपोवन की प्रत्येक कुटी को खोज-खोजकर मैं उसका पता लगाऊँगी।"

ठीक उसी समय पीछे से एक परम सुन्दर युवक गैरिक वस्त्र परिधान किए प्रत्यक्ष सुर-किशोर की भाँति राजकुमारी के सम्मुख आकर खड़ा हो गया। मधुर, गम्भीर ध्वनि में उसने कहा—"राजकुमारी! तुम्हारी कल्पना सत्य होगी। महामाया ने तुम्हारी कल्पना के अनुरूप ही तुम्हारे योग्य युवक की सृष्टि करके उसे इस धरा-धाम में भेज दिया है। तुम्हारा वह यौवन-वन उसी की प्रीति-सरिता से सिञ्चित होगा। राजकन्या! यह सत्य है; इसमें सन्देह के लिए कणमात्र भी स्थान नहीं।"

राजकुमारी ने तापसकुमार की तरफ देखा—अतृप्त नयनों से देखा, बार-बार देखा, और देखकर नयन नीचे कर लिए।

रत्नमाला ने पूछा—"भगवन्, आपका शुभ परिचय?"

तापसकुमार—"सामने इस पर्वत-खण्ड के पाद-प्रान्त में मेरी कुटी है—वहीं मैं रहता हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, इस समय मेरा इतना ही परिचय पर्याप्त होगा।"

तापसकुमार चला गया। राजकुमारी जयन्ती भी तीनों सखियों के साथ अपने प्रासाद को लौट आई। उसका हृदय-कुञ्ज प्रेम-पारिजात के परिमल से परिपूर्ण था।

राजकुमारी की प्रणय-सूचना का रहस्य रत्नमाला ने जान लिया; पर रत्नमाला की अस्पष्ट अक्षय भावना का परिचय किसी को नहीं मिला।

सत्य कल्पना का स्थूल, सुन्दर स्वरूप है; और कल्पना सत्य की स्निग्ध कोमल निराकार धारणा।

रजनी-सुन्दरी की विशाल वेणी प्रदीप्त नक्षत्र-राशि से गुम्फित थी। नर्मदा की शीतल तरङ्ग-माला के स्पर्श से शीतल, प्रस्फुटित पुष्प-पुञ्ज के परिमल से सुरभित एवं हरिचन्दन के सरस सहवास से मदमत्त होकर मन्द समीर प्रवाहित हो रहा था। सारा विश्व प्रसुप्त था। विशाल गगन निद्रा की मधुर कल्पना-सा, विस्तृत ब्रह्माण्ड सरस चिन्ता-सा प्रतीत होता था। रत्नमाला राज-प्रासाद की सबसे ऊँची छत पर चित्रणा कर रही थी—चञ्चल, विकल भाव से इधर-उधर देख रही थी। वह अपने-आप अर्द्ध स्वगत भाव में कहने लगी—"राजकुमारी? न, यह नहीं होने का। तापस-कुमार को जो तुम चाहती हो, तो मैं भी उस पर पूर्णरूप से अनुरक्त हो चुकी हूँ; पर तुम्हारे पास साधन हैं। तुम हो अनिन्द्य रूपशालिनी, तुम हो परम वैभवमयी अनूप कुमारी। मैं एक साधारण दासी मात्र हूँ; पर तो भी मैं चेष्टा करूँगी, देखूँगी, कुटिल नीति के द्वारा उन तापसकुमार के कंठ देश में अपनी बाहु-माला विलम्बमान कर सकती हूँ या नहीं? बात साधारण-सी नहीं है; फल सहज-लभ्य नहीं है; सफल परिणाम का पूर्ण निश्चय भी नहीं है।"

"मैं मानती हूँ राजकुमारी, यह तुम्हारे साथ परम विश्वासघात होगा। तुमने मुझे सदा छोटी बहन की भाँति माना है; तुमने सदा निःस्वार्थ स्नेह से स्नान कराया है; पर, नहीं, इस प्रणय-व्यापार में इस पर ध्यान न रख सकूँगी। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म प्रतिकार-परोपकार आदि के परखने का न तो यह समुचित स्थल है, और न उसके लिये पर्याप्त समय ही। मैं विश्वास करती हूँ कि यदि अपने इस भाव को तुम्हारे सम्मुख निवेदन कर दूँ, तो तुम अवश्य ही मुझे अपने सौभाग्य-सिंहासन पर अर्द्धासन देने को समुद्यत हो जाओगी; पर वह स्थिति बड़ी लज्जाजनक होगी। मैं दासी, तुम अधीश्वरी। उस समय भी मैं दासी ही रहूँगी, और तुम रहोगी वही चिरैश्वर्य-शालिनी राजराजेश्वरी। ना, ना, मैं दान नहीं लूँगी। प्रणय के इस प्रयाग-तीर्थ पर खड़ी होकर, आँचल पसारकर, तुमसे सौभाग्य की भिक्षा नहीं मागूँगी।"

"कुछ भी हो, मैं तापसकुमार को अपनाने के लिये सब कुछ करूँगी। आवश्यक होगा, तो अपने प्राणों की आहुति भी दे दूंगी। यदि उन्हें— अपने हृदयेश को प्राप्त न कर सकी, तो जीवन व्यर्थ है, सौन्दर्य्य निस्सार है, यौवन वृथा है।"

"रत्नमाला सब कुछ कर सकती है। राजकुमारी, वह निर्विकार रहकर तुम्हारा यह सौभाग्य-सदन नष्ट कर सकती है। तापसकुमार को अपने हृदय से लगाने के लिये वह नरक का महापीड़न, अग्नि का कठोर दहन एवं यातना का निष्ठुर नियन्त्रण सब कुछ सह सकती है। मैं छोड़ देती इस आशा को, पर—असमर्थ हूँ। आहा! वह कैसी रमणीय मूर्ति है, कैसी पवित्र प्रतिमा है। कैसा स्वर्गीय सौन्दर्य्य है।"

"उनकी वाणी कैसी प्रसन्न और गम्भीर थी—जैसे रसमयी कविता का अविरल प्रवाह हो। उनकी नयन-श्री कैसी अनुरागमयी थी—जैसे प्रणय, करुणा एवं त्याग की सम्मिलित त्रिवेणी से पवित्रीकृत प्रयागस्थली हो। उनका मुख-मण्डल कैसा स्निग्ध और सुन्दर था—जैसे भूतल की श्री एवं स्वर्ग की सुन्दरता का पवित्र संगम-क्षेत्र हो। और, वह मन्द सहज मुसकान कैसी कोमल एवं मधुर थी—मन्दाकिनी-सिञ्चित पारिजात-पादक के कोमल किसलय का प्रथम चारु विकास हो। वह शुभ्र, सुन्दर, तेजोमय ललाट कैसा प्रोज्ज्वल था—जैसे सूर्य्योद्भासित हिम-श्री की मधुर विलास-लीला से प्रदीप्त हेममयी रङ्गभूमि हो। और, कैसी रुचिर, मनोहर थी वह गैरिक वसन की प्रफुल्ल शोभा—जैसे भगवती विभूति-वैराग्याम्बर पहनकर तपोवन में कठोर साधना के लिये प्रविष्ट हुई हों। आहा, कैसा पूजनीय, कैसा कमनीय एवं कैसा वन्दनीय वह सुन्दर स्वरूप था।"

"तापसकुमार! तुम रत्नमाला के प्रभु हो, इष्ट हो, परमाराध्य पति-देव हो। संसार की सारी शक्ति, स्वर्ग का सारा बल तुम्हें मुझसे अलग नहीं कर सकता। तुम मेरे और मैं तुम्हारी। तुम्हें यह सम्बन्ध स्वीकार हो, पर मैंने—तुम्हारी दासी ने—तुम्हें उस नर्मदा-तट पर, उस स्निग्ध सन्ध्या-काल में, अपना पति कहकर वरण किया है; और आज इस

नक्षत्रावली के सम्मुख, सर्वव्यापिनी महाशक्ति को साक्षी बनाकर, मैं उद्-घोषित करती हूँ कि तुम मेरे पति हो, मेरे देव हो, मेरे प्रकाश हो, मेरे भवसागर के एक-मात्र नाविक हो।"

प्रणय के प्रशान्त पयोधि में किस समय बड़वानल प्रदीप्त हो उठता है, इसका पता लगाना नितान्त असम्भव है। ईर्ष्या-द्वेष, ये दोनों प्रणय-प्रासाद में जितनी सरलता एवं जितने प्रच्छन्न भाव से प्रवेश कर जाते हैं, उतनी जल्दी वे और किसी प्रवृत्ति के मन्दिर में प्रवेश नहीं कर पाते।

प्रेम के पतन और उत्थान का रहस्य अन्तर की इसी प्रवृत्ति-लीला के कानन में आदिकाल से सन्निहित है, सन्निविष्ट है।

(३)

नर्मदा-प्रासाद के एक विलासमय मन्दिर में कोमल आसन पर आसीन थीं राजकुमारी जयन्ती और उनके सामने ही बैठी हुई थी उनकी प्यारी सखी रत्नमाला। अपने हृदय-धन दुष्यन्त को पत्र-लेखन के समय त्रिभुवन-सुन्दरी शकुन्तला के मुखमयंक पर मञ्जुल भाव प्रादुर्भूत हुआ था, भग-वती गिरिराजकिशोरी के मन्दिर में भगवान् रामचन्द्र की प्राप्ति-कामना से पुष्प-माला अर्पण करती हुई जगज्जननी जनक-नन्दिनी के वदनारविन्द पर जो श्री समुद्भूत हुई थी, देवाधिदेव महादेव के प्रणय की उपलब्धि के लिए कठोर तपश्चर्या में प्रविष्ट होते समय हिमांचल-सुता महासती के आनन-चन्द्र पर जो प्रफुल्ल शोभा आविर्भूत हुई थी, राजकुमारी जयन्ती का मुख-सरोज़ भी उसी सुन्दर भाव-प्रभा से परिप्लावित हो रहा था। निर्निमेष-दृष्टि से रत्नमाला इस सौन्दर्य को देख रही थी।

राजकुमारी ने कहा—"बहन रत्नमाले, तुम जानती हो, मैं तुम्हें कितना स्नेह करती हूँ।

रत्नमाला—"जानती हूँ, राजकुमारी मुझ पर सहोदरा से भी अधिक प्रेम रखती हैं। किन्तु दासी ने उनकी किसी आज्ञा की कभी अवहेलना अथवा अवज्ञा नहीं की है।"

राजकुमारी—"सो सर्वांश में सत्य है, बहन ! तुम यह भी जानती होगी कि कुमारी जयन्ती की रहस्य-पात्री एकमात्र तुम्हीं हो। तुम्हारे ही निर्मल स्वच्छ हृदय-दर्पण में मैं अपने भावों की छाया को प्रतिबिम्बित करती हूँ। तुम्हीं मेरी विश्वास भूमि हो।"

रत्नमाला—"इस सहज सुन्दर सौजन्य के लिये मैं राजकुमारी की चिरकृतज्ञ रहूँगी। राजकुमारी को अपने इस विश्वास-स्थापन के लिये कभी पश्चात्ताप न करना पड़े, इसके लिए मैं सदा सचेष्ट रहती हूँ। राजकुमारी का रहस्य मेरे हृदय में प्राणों की भाँति चिरजीवित—किन्तु [illegible]—[illegible]।"

राजकुमारी—"मुझे ऐसी ही आशा, ऐसा ही निश्चय है। बहन, आज मैं एक बड़े गुप्त व्यापार में तुम्हारी सहायता की याचना करती हूँ। मुझे विश्वास है कि तुम सहोदरा की भाँति मेरे अनुरोध की रक्षा करोगी। बहन, यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है।"

रत्नमाला—"हृदय का बलिदान करके भी मैं राजकुमारी की आज्ञा का पालन करूँगी। राजकुमारी, मैं जानती हूँ, किस रहस्यमय व्यापार में तुम मेरी सेवा चाहती हो। मैं उसके लिए प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत हूँ। मेरी तुच्छ सेवा का इससे अधिक अच्छा अवसर और क्या होगा ?

राजकुमारी—"जानती हो ? असंभव ! अच्छा कहो सखी, किस व्यापार की सिद्धि में मैं तुम्हें नियुक्त करना चाहती हूँ ?"

रत्नमाला—"उस स्निग्ध सन्ध्या कानन में नर्मदा-तट पर जिन परम सुन्दर तापसकुमार का दर्शन तुम्हें प्राप्त हुआ था, उन्हीं के समीप तुम अपनी प्रणय-स्वीकृति का शुभ समाचार भेजना चाहती हो। राजकुमारी, मेरी कल्पना कदाचित् असंगत नहीं है।"

राजकुमारी—"नहीं, पर तुमने यह अनुमान कैसे किया रत्नमाले ?"

रत्नमाला—"तुम्हारी इस अनुराग-अरुणा लोचन-श्री से, तुम्हारे उस स्नेह-सरस स्वर-भङ्ग से, तुम्हारे इस प्रीति-प्लावित भाव-विकास से। राजकुमारी, मैं इस रहस्य की प्राण-प्रण से रक्षा करूँगी। क्षमा करना

राजकुमारी, मैंने स्पष्ट रूप से तुम्हारे इस प्रणय-रहस्य को तुम्हारे राग-रञ्जित कपोलों पर सलज्ज भाषा में लिखा हुआ देखा था। तुम्हारी प्रत्येक स्वीकृति से पहले ही मैंने इस रस के परिपाक की समुचित आयोजना भी कर ली है।"

राजकुमारी—"सो कैसे ? स्पष्ट रूप से कहो रत्नमाले।"

रत्नमाला—"राजमाता की पूजा के लिए नित्य नियमानुसार आज भी मैं जल लेने के लिए नर्मदा-तट पर उषाकाल में गई थी। उस समय वहाँ पर कोई नहीं था। केवल आकाश में पतितप्राय तारकावली क्षीण ज्योति से जगमगा रही थी। उस समय हृदय की किसी गुह्यतम प्रेरणा से प्रेरित होकर मैंने उन महाभाग तापसकुमार की पर्णकुटी में प्रवेश किया।

राजकुमारी—"पर्ण-कुटी में प्रवेश किया क्यों ?"

रत्नमाला—"अपनी सहोदरा समान राजकुमारी की आन्तरिक अभिलाषा की परिपूर्ति-साधन के लिए। मैंने क्या अक्षम्य अपराध किया राजकुमारी ?"

राजकुमारी—"नहीं, फिर क्या हुआ ?"

रत्नमाला—"मुझे देखते ही तापसकुमार का मुख-कमल प्रफुल्ल हो गया। उन्होंने बड़े ही प्रेम एवं आग्रह से तुम्हारे कुशल समाचार पूछे और अस्पष्ट भाषा में व्यंग्यमयी वाणी में अपने हृदय के अनुराग की कथा भी कही। चलते समय उन्होंने मुझे एक वन-पुष्पमाला भी दी है। राजकुमारी की शृंगार-लीला के लिए मैं उसे लाई हूँ। तापसकुमार ने मन्त्र-पूत आशीर्वादसलिल से अभिषिक्त किया है। उन्होंने कहा—यह अक्षय है, यह कभी परिम्लान नहीं होगी। इसकी सुगन्ध तथा सुन्दरता उसी दिन नष्ट होगी जिस दिन हम दोनों में से एक का भी प्रणयबन्धन शिथिल होगा।

रत्नमाला ने कमल-पत्र में रक्खी हुई वही प्रफुल्ल माला अपने अञ्चल से निकाली। सारा मन्दिर स्वर्गीय सौरभ से परिपूर्ण हो गया। राजकुमारी ने बड़े प्रेम और बड़े उल्लास से वह प्रियगुम्फित बनमाला अपने मुक्ता-माला-विभूषित कण्ठ-देश में डाल ली। वह उनके प्रणय का पुष्ट चिह्न और उनके अनुराग की भविष्यवाणी थी।

राजकुमारी ने सस्नेह रत्नमाला को आलिङ्गन कर लिया। प्रेमपूर्वक कहने लगी—"प्यारी बहन ! तुम्हारे इस ऋण से मैं आजन्म उऋण नहीं हो सकती। बहन, तुम्हें इसका मैं क्या समुचित पुरस्कार दूं ?"

रत्नमाला—"राजकुमारी, वर दो कि मुझे यदि कभी किसी विशेष वस्तु की आवश्यकता हो, तो तुम्हें अदेय न होगी।"

राजकुमारी—"न होगी। मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगी।"

रत्नमाला—"और कुछ सेवा ?"

राजकुमारी—"हाँ, उन तापसकुमार से आज निवेदन कर देना कि पूर्णिमा की रात्रि को, उसी निकुञ्ज में, द्वितीय प्रहर के प्रारंभ में, मुझे अपने शुभ दर्शन दें।"

रत्नमाला—"आज ही उन तक राजकुमारी का संवाद पहुँच जायगा।"

रत्नमाला के विशाल लोचनों में एक कुटिल कटाक्ष आविर्भूत हुआ।

अक्षय कल्प-मञ्जरी निःस्वार्थ प्रेम के जिस प्रफुल्ल उद्यान में प्रस्फुटित होती है, उसी का नाम है नन्दन-निकुञ्ज।

उस विशाल, उन्मुक्त, कौमुदी-धौत नभोमण्डल के निम्न देश में, विशालकाय पवित्र विन्ध्याचल के पद-प्रान्त में, प्रकृति के श्यामल सौन्दर्य से विभूषित नर्मदा-दुकूल पर, शीतल समीर से विकम्पित मालती—मण्डप के कुसुम-तोरण-द्वार पर स्फटिक-स्वच्छ कुसुमाकीर्ण विमल शिलाखण्ड पर आसीन होकर रत्नमाला गाने लगी—

गान

आज मोहि सूनो सब संसार।
वृन्दाबन के बन—उपबन में
बरबेलिन के नव यौवन में,
अलिन–कलिन के नित चुंबन में,
नहिं कोउ रस में सार ॥आज०

मन्जुल मन्जु कुन्ज-पुन्जन में,
मधु गुन्जन मधुकर—गुन्जन में,
खन्जन, मृग—से दृग—कन्जन में,
रति-रन्जन की मार ।।आज०

गान के मधुर स्वर ने उस शान्ति के पवित्र पाद में माधुर्य्य—लहरी को प्रवाहित कर दिया। आकाश में मधुर चन्द्र और भी हँसने लगा, मन्द समीर भी मादक होकर झूम-झूमकर नाचने लगा; कुसुम-कलियों की अवलियाँ चटक-चटककर खिलने लगीं, और नर्मदा की कल-कलमयी तरङ्ग-श्रेणी पर विमल चन्द्रिका विभिन्न भावों के साथ और भी उन्मत्त नृत्य में प्रवृत्त होने लगी। ठीक उसी समय वही तापसकुमार पीछे से प्रकट होकर रत्नमाला के सम्मुख खड़े हो गये। रत्नमाला भी ससम्भ्रम खड़ी हो गई। उसने कृताञ्जलि होकर प्रणाम किया।

तापसकुमार ने प्रश्न किया—"रत्नमाले, रात्रि के इस द्वितीय प्रहर में यहाँ कहाँ ?"

रत्नमाला—"यों ही देव ! प्रकृति के सौन्दर्य की मैं उपासिका हूँ। प्रासाद में आज चित्त नहीं लगा—चन्चल हो उठा। राजकुमारी शयना-गार में चली गईं, मैं अपनी वीणा लेकर नर्मदा-निकुन्ज में आ गई, और यहाँ इस मिवल लावण्य पर परिमुग्ध होकर एक पद गाने लगी। सौभाग्य से आपके शुभ दर्शन भी मिल गये।

तापसकुमार—'वास्तव में तुम बड़ी प्रवीण गायिका हो। इस समय ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों स्वयं उर्वशी पारिजात-वन से उतरकर रेवा-तट पर आ गई हो।'

रत्नमाला—'पर उर्वशी तो वारांगना है देव ?"

तापसकुमार—'ठीक है। मेरी भूल थी, तुम उर्वशी नहीं, साक्षात् महेन्द्रप्रिया शची हो।'

रत्नमाला—'पर मैं तो कुमारी हूँ।'

तापसकुमार—'पराजय स्वीकार करता हूँ। तुम अनुपमेय हो, तुम्हारे

योग्य उपमा मिलना कठिन है। तुम साहित्य की सरस कल्पना, संगीत की विमल रागिनी एवं स्नेह की निर्मल विशुद्ध नर्मदा हो। तुम सदानन्दमयी हो रत्नमाले ?"

रत्नमाला—'पर इस समय मैं एक विशेष-समाचार की वाहिका भी हूँ देव।'

तापसकुमार—'समाचार ! राजकुमारी जयन्ती की क्या आज्ञा है ?'

रत्नमाला—परन्तु समाचार प्रकट करने के पहले मैं उसके पुरस्कार का निर्णय कर लेना चाहती हूँ देव ! इस शुभ प्रणय के आनंद में कुछ मेरा भी भाग है भगवन्।'

तापसकुमार—'तुम्हारे लिए तो मुझे कुछ भी अदेय नहीं है रत्नमाले।'

रत्नमाला—'कुछ भी नहीं ? सोच लीजिए देव ! आपने अपने इस सरल उदार आवेश में कुमारी जयंती के विस्तृत साम्राज्य को विस्मृत कर दिया है क्या ?'

तापसकुमार—'हाँ रत्नमाले, भूल गया था। हृदय की संपत्ति पर मेरा अधिकार अवश्य नहीं है; पर और तुम्हारे कर-कमल में समर्पित है।'

रत्नमाला—'और क्या देव ?'

तापसकुमार—मेरी सिद्धि का मधुर फल, योग्य-प्राप्त निधि का निखिल विलास एवं आंतरिक कृतज्ञता की सौरभमयी पुष्पाञ्जलि।'

रत्नमाला—'पर यदि मैं आपसे प्रतिज्ञा करा लेती और फिर वही माँगती, जिस पर राजकन्या जयन्ती का एकछत्र आधिपत्य है, तो आप क्या करते देव ?'

तापसकुमार—'वही जो प्रणभ्रष्ट को करना चाहिए। हृदय के विनिमय में प्राणों का उत्सर्ग कर देता। यही कलकलनादिनी निर्मल-सलिला नर्मदा मेरी चिर-विश्राम-शय्या बन जाती।'

रत्नमाला—'यह मैं जानती थी प्रभो ! इसीलिए मैंने आपको प्रतिज्ञा-बद्ध नहीं किया।'

तापसकुमार—'उदारता की पराकाष्ठा है। पर हो चुकी यह परिहास-लीला; अब कहो रत्नमाले, राजकुमारी जयन्ती की क्या आज्ञा है ?'

रत्नमाला—पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र की प्रभा से प्रोद्भासित नर्मदा-निकुञ्ज में राजकिशोरी जयन्ती इन पुण्य श्री-चरणों के दर्शन की प्रार्थना करती है।'

तापसकुमार—'मेरे अहोभाग्य। राजकन्या से निवेदन कर देना कि उनका उपासक ठीक समय पर निकुञ्ज-भवन में उनके शुभागमन को प्रतीक्षा करेगा।'

रत्नमाला—'प्रणाम करती हूँ देव।'

तापसकुमार—"जाओ रत्नमाले, यदि इस लोक में तुम्हारी इस सहायता का समुचित पुरस्कार न दे सका, तो अक्षय स्वर्ग में अवश्य दूँगा।"

रत्नमाला—"प्रतिश्रुत होते हैं देव ?"

तापसकुमार—"हाँ, जगज्जननी साक्षी हैं।"

रत्नमाला—"जय हो देव की !"

प्रणय की अन्तर्लीला का रहस्य अन्धकार से नहीं—किन्तु अभेद्य आलोक से आवृत रहता है। दिव्य लोचन ही सूर्य्य की प्रोज्ज्वल प्रभा से भी प्रदीप्त आवरण के पीछे मणिमय आसन पर बैठे हुए उस अक्षय-सुधास्रावी सौन्दर्य को देख सकते हैं।

(५)

प्रफुल्ल पुण्डरीक की भाँति आकाश-मानस में पूर्ण चन्द्र विलसित हो रहा था, और चञ्चरीक-राजि की भाँति उसके बीच में विकसित हो रही थी कलंक-कालिमा। एक ही पुण्डरीक प्रस्फुटित होकर समस्त सरोवर को अपनी आभा से समुद्दीप्त कर रहा था। नर्मदा अपने दर्पण-विमल वक्षस्थल में उसका मधुर प्रतिबिम्ब धारण किए बही जा रही थी। सारी प्रकृति एवं समस्त पृथ्वी धवल-विमल साड़ी पहने सोह रही थी। राजकुमारी जयन्ती और उनके हृदयेश तापसकुमार का रहस्यालाप नर्मदा की कल-कलमयी तरङ्ग राशि में विलीन हो रहा था।'

राजकुमारी ने स्नेह-नम्र स्वर से कहा—"देव, मैंने आपकी साधना में विघ्न डाला।"

तापसकुमार ने अनुराग-सरस वाणी में उत्तर दिया—"नहीं देवि; तुम तो मेरी साधना की सम्पूर्ण सफलता हो। तुम्हें पाकर मैंने विशुद्ध आनन्द की अनुभूति पाई है।"

राजकुमारी—"पर प्रभो, रमणी—विशेषकर रूपवती युवती रमणी-तपोनिष्ठा के मार्ग में प्रत्यक्ष बाधा बनकर खड़ी होती है। कम-से-कम शास्त्रों का तो यही मत है।"

तापसकुमार—"उन्हींके पथ में, जो रमणी को काम-वासना-परि-तृप्ति की मदिरा-मात्र मानते हैं, जो रमणी को परिपूर्णता का अनिवार्य्य साधन मानते हैं, जो रमणी में विशुद्ध आत्मिक सौन्दर्य की कल्पना करते हैं, जो रमणी को स्वार्थ-त्याग की चरम सीमा, भगवती इच्छा की साकार प्रतिमा एवं गार्हस्थ्य की पुण्यमयी अधीश्वरी मानकर उसकी आराधना करते हैं, उनके लिए रमणी की प्राप्ति इष्ट है, अनिष्ट नहीं।"

राजकुमारी—"पर मैं इस उच्च आदर्श का पालन कर सकूँगी या नहीं, इसमें सन्देह है।"

तापसकुमार—"अणुमात्र भी नहीं। मैं तुम्हारे सहज-सुन्दर मुख-मण्डल पर जो पवित्र सौन्दर्य-उज्ज्वल आत्म-त्याग एवं विमल संकल्प की ज्योति देख रहा हूँ वह कुछ और ही प्रमाणित कर रही है। मेरा विश्वास है कि तुम्हें पाकर मैं कठोर तप का अनुष्ठान कर सकूँगा; और मेरी कल्पना, अभिलाषा एवं साधना तुम्हारे पुण्य संसर्ग से और भी अधिक उज्ज्वल, पवित्र एवं प्रसादमयी हो जायगी। तुम मेरे प्राणों का परिमल, कविता की मधुर कल्पना, आत्म-संगीत की स्वर-लहरी, साधना की चिर-सहचरी एवं मेरे संकल्प की उत्साह-धारा बनकर मेरे कल्याण के लिये इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुई हो। यह मेरी अटल विमल ध्रुव धारणा है।"

राजकुमारी—"और तुम देव! तुम्हारे अवतार का क्या उद्देश्य है?"

तापसकुमार—"मैं तुम्हारे प्रेम का पात्र, तुम्हारे सुख का सखा, तुम्हारे

दुख का भागी, तुम्हारे मन्त्र का अर्थ, तुम्हारे इष्ट का स्वरूप, तुम्हारे व्रत का विषय, एवं तुम्हारे आश्रम का अवलम्बन बनकर नित्य तुम्हारे सुख-सहवास में जीवन व्यतीत कर सकूँ, यही मेरी सृष्टि का एकमात्र उद्देश्य है।"

राजकुमारी—"मेरे अहोभाग्य ! सौभाग्य की यही चरम सीमा है।"

तापसकुमार—"तो आओ, इस मंगल-मुहूर्त्त में अनन्त-निर्मुक्त नभोमण्डल के नीचे, इस पवित्र नर्मदा के दुकूल पर, चन्द्रदेव की समुपस्थिति में, प्रकृति के आशीर्वाद में, हम दोनों परस्पर चिर-मधुर सम्बन्ध में आबद्ध हो जायें। तुम्हें स्वीकार है देवि ?'

राजकुमारी—"स्वीकार है आर्य्य-पुत्र !"

"पर, मुझे स्वीकार नहीं है।" यह वज्र-सी वाणी सहसा सुन पड़ी और चार सशस्त्र सैनिकों के साथ अनूपेश्वर ने उस निकुंज में सरोष प्रवेश किया। राजकुमारी और तापसकुमार स्तब्ध हो गये। दोनों ने उनके चरण-तल में घुटने टेक दिए। पर अनूपेश्वर ने कुलिश-कठोर स्वर से कहा—"सैनिको ! बस, भण्ड ब्रह्मचारी को बाँध लो और त्रिकूट-शिखर पर जो कारागार है, उसमें ले जाकर इसे बन्द कर दो। और, जयन्ती ! सामने वाला नर्मदा-प्रासाद ही तेरे लिए कारागार-रूप में परिणत कर दिया गया है। तेरी चिर-सखी रत्नमाला के अतिरिक्त तेरे पास और कोई नहीं रहेगा।

प्रेम का पथ बड़ा भयंकर एवं दुर्गम है। सहस्र-सहस्र बिच्छुओं का तीव्र दंशन, अमङ्गल का कठोर कुलिश-प्रहार, एवं दुर्भाग्य का निष्ठुर नियंत्रण, इन तीनों की सम्मिलित व्यथा भी उसके परिताप के सामने परमाणु के समान तुच्छ है। इसलिये उस पर विचरण करनेवाला योगीश्वर की संज्ञा को प्राप्त होता है।

अन्धकारमयी यामिनी, पर्वत के भयंकर दुर्गम मार्ग एवं हिंसक-जन्तुओं के कठोर निनाद की कणमात्र चिन्ता न करके, अतुल साहस, अमित तेज और निश्चल संकल्प से बलवती होकर रत्नमाला त्रिकूट-शिखर पर पहुँच गई। उसने धीरे से अपनी कंचुकी के भीतर से चाबी निकाली और कारागार के कपाट खोल दिए।

प्रकाश के साधन उसके पास प्रस्तुत थे। कारागार आलोकमय हो गया। तापसकुमार जाग्रत थे। वह आश्चर्य-चकित होकर रत्नमाला को देखने लगे। रत्नमाला ने उन्हें प्रणाम किया, और धीरे-धीरे उनके बन्धन काट दिए।

रत्नमाला—'देव, मैं आपको इस कारागार से मुक्त करने आयी हूँ।'

तापसकुमार—'धन्यवाद! पर किसकी आज्ञा से—किसकी प्रेरणा से?'

रत्नमाला—"अपने प्रेम की प्रेरणा से, अपने कर्त्तव्य के अनुरोध से, अपनी आत्मा की आज्ञा से। देव, आप क्या मेरे साथ इस कारागार से बाहर चलने के लिये पूर्ण रूप से प्रस्तुत हैं? विलम्ब का समय नहीं है।"

तापसकुमार—"पर, रत्नमाले, यह सब कष्ट उठाना न पड़ता, यदि मैं इस कारागार से मुक्त होना चाहता। पाषाण-प्राचीर एवं लौह-कपाट मुझे नहीं रोक पाते। पर, मैं इस कारागार से मुक्त होकर क्या करूँगा? मेरा हृदय तो मुक्त न होगा। वह तो चिर-व्यथा का निर्मम नियन्त्रण ही सहा करेगा। नहीं रत्नमाले, मैं न जाऊँगा; यहीं रहूँगा, मुझे यहीं, सुख है।"

रत्नमाला—"नहीं देव, मेरी यह अतुल रूप-राशि, मेरा प्रफुल्ल यौवन, मेरी आत्मा की अपार सम्पत्ति एवं मेरी तन्मयी साधना, सब आपके श्रीचरण तल में सादर समर्पित हैं। उन्हें स्वीकार कीजिए देव।"

तापसकुमार—"पर चातक मन्दाकिनी-जल से परितृप्त नहीं होता। उसे तो घनश्याम का एक बिन्दु ही परम अभीप्सित है।"

रत्नमाला—'सो ठीक है देव! यह तो अलभ्य है, एकान्त अप्राप्य है, उसके लिए व्यर्थ ही प्राणोत्सर्ग करना बुद्धिमत्ता नहीं है।"

तापसकुमार—"तो क्या सहज-प्राप्य के लिए, एकान्त करतल-गत के लिए, परम-प्रिय प्राणों की आहुति दी जाती है? साधारण भोजन-पाकी अग्नि में कोई अपनी आहुति नहीं देता; पवित्र यज्ञ की मोक्षदायिनी प्रोज्ज्वल ज्वाला ही में देह को भस्मावशेष कर देने की शास्त्रीय परिपाटी चली आती है। रत्नमाले! दुष्कर ही के लिए दुस्साहस किया जाता है।

रत्नमाला—"मेरा दुर्भाग्य! तो क्या मेरा प्रस्ताव आपको अस्वीकृत है?"

तापसकुमार—"एकान्त रूप से। राजकन्या जयन्ती के बिना यह विशाल विश्व मेरे लिये महान् कारागार ही के समान है। मैं इस छोटे कारागार ही में सुखी हूँ। तुम्हारे इस प्रणयानुरोध की मैं अवहेलना कर रहा हूँ, इसका मुझे दुःख है रत्नमाले! पर मैं विवश हूँ, प्रवृत्ति की प्रबलता के सम्मुख निर्बल हूँ। जाओ रत्नमाले, लौट जाओ, कारागार के कपाट फिर से अवरुद्ध कर दो।

रत्नमाला—"पर देव राजकुमारी जयन्ती तो अब इस संसार में नहीं है। फिर उसके लिए क़ष्ट उठाना नितान्त निरर्थक है।"

तापसकुमार—"नहीं है? छोड़ गई इस विनश्वर विश्व को? आह! प्राणेश्वरी! तुमने मुझे नहीं बताया, और चली गई! अच्छा रत्नमाले! इस समाचार के लिए भी तुम्हें धन्यवाद ही देता हूँ; यदि तुम मुझे यह समाचार न देती तो नहीं मालूम राजकुमारी कब तक नन्दन-वन में मेरी प्रतीक्षा करतीं। मुझे विश्वास है, स्वर्ग किशोरिका से परिवेष्टित होकर भी, अप्सराओं की ललित सङ्गीत-लहरी सुनकर भी, वह मेरे बिना आह्लादित न होती होंगी। अच्छा, रत्नमाले, वहीं जाओं हूँ, जहाँ प्रेम का अक्षय साम्राज्य है, जहाँ रस का अविरल स्रोत प्रवाहित होता है, जहाँ विच्छेद का भय नहीं—व्यथा की आशंका नहीं, जहाँ मेरे हृदय की अधीश्वरी राजकुमारी जयन्ती के मधुर हास्य का प्रोज्ज्वल प्रकाश है, वहीं जाता हूँ रत्नमाले! कौशाम्बी के लिए यह संसार अब असार है—शून्य है।

रत्नमाला—"क्या कौशाम्बी के युवराज!!"

तापसकुमार—"हाँ, मैं कौशाम्बी का युवराज हूँ। रत्नमाले, आज तुम्हें यह रहस्य बताता हूँ। तुम इस रहस्य को महाराज अनूपेश्वर से भी निवेदन कर देना, जिससे उनकी आत्म-ग्लानि दूर हो, और वह अपनी दुखिया दुहिता को आशीर्वाद दें कि वह मेरे साथ स्वर्ग में अक्षय आनन्द को प्राप्त करे। विदा रत्नमाले।"

रत्नमाला—स्तम्भित, चकित एवं मूक हो गई। उसी समय तापस-कुमार योग-आसन में आसीन हो गये। उनके ब्रह्म-रन्ध्र को विदीर्ण करके

एक महाप्रकाश निकला और वह उन्मुक्त आकाश में जाकर विलीन हो गया।

संसार प्रेम की लीला-भूमि मात्र है, वह दिन भर यहाँ केलि-क्रीड़ा करके सायंकाल होते-होते अपने अक्षय कल्प-कुटीर में आनन्द से विहार तथा विश्राम करने के लिये चला जाता है।

प्रेम आत्मा का पर्याय है और आत्मा आख्यान है—महामाया राज-राजेश्वरी कल्याण-सुन्दरी की विमल विभूति की पवित्र प्रोज्ज्वल रश्मि का। प्रभाकर की प्रोज्ज्वल बाल-किरण-माला नर्मदा-प्रासाद के सर्वोच्च सुवर्ण-मण्डप पर केलि-क्रीड़ा कर रही थी। सारा प्रासाद सुवर्ण-प्रकाश-धारा में स्नान कर रहा था। प्रासाद के एक कक्ष में सुवर्ण-निर्मित, रत्नखचित सिंहासन पर आसीन थे अनूपेश्वर और उनके सामने ही घुटने टेके बैठी थी आलुलायितकेशा, विक्षिप्तप्राया राजकन्या जयन्ती।

अनूपेश्वर ने कहा—"जयन्ती, आज तुमने मुझे यहाँ प्रातःकाल ही क्यों बुलाया?"

राजकन्या ने रूँधे कण्ठ एवं कम्पित स्वर में कहा—"पिता, मैंने जाना है, मुझे स्पष्ट सूचना मिली है कि उन तापसकुमार ने कल रात्रि को उस कारागार में प्राण-त्याग किया है।"

अनूपेश्वर ने चकित होकर कहा—'तुझे कैसे ज्ञात हुआ जयन्ती?'

जयन्ती—"मैंने स्वप्न देखा था। वह स्वयं वहाँ पधारे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि वह स्वर्ग को जा रहे हैं, और वहाँ पारिजात-वन में मेरी प्रतीक्षा करेंगे। प्रभो, पिताजी, मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ, कृपा कर मुझे यह बता दीजिए कि क्या यह समाचार सत्य है? मैं जानती हूँ, यह सत्य है। पर, तो भी, इसका पूर्ण निश्चय कर लेना चाहती हूँ। पिता, मेरे पूज्य पिता, दया कर सत्य बताना! मैं तुम्हारी बड़ी अभागी पुत्री हूँ।"

अनूपेश्वर—"हाँ, यह समाचार सत्य है, पर तो भी तेरा इस समाचार से क्या सम्बन्ध? तू क्या करेगी? तेरे मन में क्या कोई विचार उठा है?"

जयन्ती—"मेरा ? मेरा इस समाचार से यदि कोई सम्बन्ध नहीं, तो और किसका होगा ? मैं सती होऊँगी। पिताजी, उनके शव को लेकर चिता पर जल जाऊँगी। आज्ञा दीजिए मुझे मैं अपने इस व्रत को पूर्ण करूँगी।"

अनूपेश्वर—"पर तेरा उसके साथ विवाह नहीं हुआ तूने तो उसके कण्ठ में जय-माल नहीं डाली, समाज और धर्म ने उसे तेरा पति कहकर स्वीकार नहीं किया।"

जयन्ती—"तो भी इनके साथ मेरा विवाह हो चुका है। नर्मदा की मन्त्र-माला के मधुर सङ्गीत म प्रकृति की परमोज्ज्वल वेदी पर, उस निर्जन मालती-मण्डप के बीच में मैंने उन्हें पतिरूप में वरण किया था। अब न रोकिए, पिताजी चलने दीजिए, प्रसन्न चित्त से अनुमति दीजिए। उनके प्रतीक्षा-काल को बढ़ाना समुचित नहीं।"

अनूपेश्वर—"पर इसमें मेरे यश में कलंक लगेगा जयन्ती।"

जयन्ती—"और मुझको रोकने से आपके और मेरे धर्म का विनाश होगा। आप जानते हैं, हिन्दू-ललना का संकल्प चिरस्थायी होता है। वह केवल वासना की कन्दुक-क्रीड़ा नहीं है। वह पुण्य-प्रेम, अक्षय अटल, अमिट साधना है।"

अनूपेश्वर—"पर तुझे मैं सती न होने दूंगा ?"

जयन्ती—"रोक नहीं सकेंगे पिताजी ! पाषाण-प्राचीर पर प्रहार करने से कपाल भग्न हो सकता है; उन्मुक्त यातायन से नीचे अभेद्य अन्धकार-मयी कन्दरा में पतित होना क्षण भर का काम है। और इन साधनाओं के छिन जाने पर भी अन्तरात्मा में प्रज्वलित होनेवाली प्रेमाग्नि में प्राणों की आहुति दी जा सकती है। पिता, मैं जाऊँगी जहाँ उनकी चरण-रज से पृथ्वी पवित्र हो रही है, जहाँ उनकी मन्द-मुसकान से विलास-कुञ्ज विलसित हो रहे हैं, जहाँ उनकी श्री से आनन्द की धारा प्रवाहित हो रही है। वह मेरे प्रभु हैं, ईश्वर हैं, चक्रवर्ती सम्राट् हैं।"

अनूपेश्वर—"बेटी, क्या यह तेरा निश्चित संकल्प है ? किसी भाँति टल नहीं सकता क्या ?"

जयन्ती—"नहीं पिता, यह विधाता के विधान से, ऋषि के वचन से, एवं महामाया की इच्छा से भी अधिक अटल है। मैं अवश्य प्राणत्याग करूँगी। यदि आपकी शुभ अनुमति मिल गई, यदि उनके पवित्र शव को गोद में लेकर मैं भस्म हो सकी, तो मुझे विशेष सन्तोष होगा और शास्त्रीय आदेश तथा लौकिक धर्म का भी पूर्णरूप से परिपालन हो जायगा। मेरा सहमरण तो निश्चित ही है।"

अनूपेश्वर—"अच्छा बेटी, जाओ! जाओ उस अक्षय आलोकमय पति-लोक को। मैं नहीं जानता था, मैं विमूढ़ था। यदि तुम दोनों के इस पवित्र प्रोज्ज्वल प्रेम के इस रहस्य को जानता होता तो मैं कदापि बाधा न डालता। यह घोर घटना कदापि घटित न होती। पर महामाया की महा-व्यवस्था के रहस्य को कौन जानता है? वह अमिट है। जाओ बेटी, यहाँ तुम सुखी न हो सकीं। मैं आशीर्वाद देता हूँ, अपने आराध्य-पति के साथ स्वर्ग में आनन्दपूर्वक रहो।"

जयन्ती ने पितृ-देव की पद-धूलि अपने सुरवन्द्य ललाट पर लगा ली।

प्रणय का प्रण पूर्ण हो गया। संसार, देखो इस पुनीत दृश्य को, और स्वर्ग, तुम हाथ बढ़ाकर इस प्रेम के प्रोज्ज्वल सरूप का स्वागत करो!

(८)

जहाँ तापसकुमार एवं राजकन्या जयन्ती ने एक दूसरे को वरण किया था, वहीं आज वे सहमरण के लिए समुपस्थित हुए। अनूप-राज्य की सारी प्रजा इस दृश्य को देखने तथा सती की पूजा करने को एकत्रित हुई।

नर्मदा के उसी निकुञ्ज के द्वार-देश पर, विमल शिलाखण्ड के पास, प्रकाण्ड चन्दन चिता प्रस्तुत हुई। राजकन्या जयन्ती पूर्ण शृङ्गार करके पूज्य प्राणेश्वर के शव को लेकर, स्वर्गयात्रा के लिए समुद्यत हुई।

सब संस्कार हो चुके थे—केवल चिता में अग्नि-संस्कार अवशिष्ट था। उसी समय एक ओर से आकर रत्नमाला ने चिता के सामने घुटने टेक दिए। रत्नमाला उन्मादिनी हो रही थी। उसके गुलाब से अरुण लोचन तप्त अङ्गार से जल रहे थे, उसकी केशराशि बिखरी हुई तथा

धूल-धूसरित थी। मुख पर तीव्र व्यथा के सारे लक्षण परिलक्षित हो रहे थे, उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे।

रत्नमाला ने चिता के सामने घुटने टेक दिए। हाथ जोड़कर कहा—"सती, तुम्हें स्मरण होगा, एक दिन तुमने मुझे एक वर देने को कहा था। आज मैं वही वर माँगने आई हूँ।"

राजकुमारी—"तुम्हें तब भी कुछ अदेय न था, और अब भी नहीं है। माँगो बहन।"

रत्नमाला—"क्षमा! दया! बस केवल क्षमा! मैं अपने पाप के लिए क्षमा माँगती हूँ। देवि दया करो।"

राजकुमारी—"तुमने कोई पाप नहीं किया बहन, कौन-से पाप के लिए मुझसे क्षमा माँगती हो?"

रत्नमाला—"किया है, अक्षम्य अपराध किया है। पर पहले क्षमा कर दो तब निवेदन करूँगी।"

राजकुमारी—"क्षमा करती हूँ बहन! इस अन्तिम समय में क्या तुम्हारा मुख मलिन देख सकूँगी। कभी नहीं। क्षमा करती हूँ। कहो, क्या रहस्य?" अब अधिक समय नहीं है। विलम्ब ठीक नहीं।"

रत्नमाला—"सुनो बहन, मैंने ही यह सब काण्ड किया है। यह—तापसकुमार तुम्हारे भी हृदयेश्वर हैं—और मेरे भी हृदयधन। मैंने सोचा था, मैं सरल सत्य भाव से नहीं तो कुटिल नीति से इन्हें अपना सकूँगी। पर मैं मूढ़ थी। प्रेम की प्रबलता का अनुभव करके भी स्वार्थ से अन्धी हो गई थी। मैंने ही तुम्हारे पिता को सूचना दी थी। मैं परिणाम जानती थी, और मुझे विश्वास था कि, तापसकुमार को मैं कारागार से विमुक्त कर दूँगी। पर हाय! तुम्हारी आज्ञा के बिना वह कारागार से बाहर चलने को प्रस्तुत नहीं हुए। तब मैंनें अपने अन्तिम कुटिल बाण का प्रयोग किया, तब मैंने उनसे तुम्हारे प्राण-त्याग की झूठी बात कही। मैंने कल्पना की थी कि वह तापसकुमार तुम्हारी मृत्यु का सम्वाद पाकर, तुम्हें अलभ्य मानकर—कदाचित् मेरे प्रणय को स्वीकार कर लें। पर उन्होंने—उन उदार सच्चे

प्रेमी तापसकुमार ने—मेरा तिरस्कार और तुम्हारे काल्पनिक वियोग में योग-बल द्वारा प्राण-त्याग कर दिया। इस प्रकार मैंने मूढ़तावश तुम्हें अपने को विधवा बना दिया। राजकुमारी, वह तापसकुमार कौशाम्बी के युवराज थे।"

राजकुमारी—"आह! कौशाम्बी के युवराज ?"

रत्नमाला—"हाँ, कौशाम्बी के युवराज थे। स्वर्ग के लिये प्रस्थान करते समय उन्होंने यह रहस्य मुझसे कहा था। पर हाय! मैं मूढ़ थी। स्वार्थ से अन्धी हो रही थी। यदि माँगती—हाथ! जोड़कर माँगती, तो तुम इतनी उदार थी कि मुझे भी उनके प्रणय पद्म की पराग का एक कण अवश्य दे देतीं। पर, अब क्या हो सकता है! घटना अब अघटित नहीं हो सकती मेरी वहन ?"

राजकुमारी—ठीक है बहन, जो होना था सो हो चुका। पर तुम उन्हें प्यार करती थीं—उनके चित्र-पट की पूजा करती थीं। बस, मेरे क्षमादान के लिए इतना ही बहुत है। बहन, मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ। स्वर्ग के मन्दाकिनी-चुम्बित निकुंज में जब आओगी, तब तक भी अगर तुम उन्हींकी उपासना में रत रहीं तो मैं सहर्ष अपना अर्द्धासन तुम्हें दूँगी, यह प्रण करती हूँ।"

रत्नमाला—"उदार देवी, धन्य हो तुम! पर मैं तुम्हारे साथ ही चलूँगी, तुम्हें वहाँ दासी की आवश्यकता होगी। उनका सिर स्थापित होगा तुम्हारी गुलाब-सी कोमल गोद में और उनके पादपद्म प्रस्थापित होंगे मेरी उन्मुक्त क्रोड़ में। देवि, एक दिन उन्होंने भी प्रसन्न होकर मुझे वर दिया था कि वह स्वर्ग में मुझे अपनी सेवा में स्वीकार कर लेंगे मैं उनसे वही वर माँग लूँगी। तुम मेरी ओर से प्रार्थना कर देना बहन!"

राजकुमारी—"अवश्य! तो यह तुम्हारा निश्चित संकल्प है!"

रत्नमाला—"निश्चित! अटल!"

राजकुमारी—"फिर बिलम्ब क्यों? आओ चलें वह प्रतीक्षा करते होंगे।"

चिता की पवित्र प्रोज्ज्वल प्रज्वलित शिखा-माला पर आरूढ़ होकर दोनों अक्षय पति-लोक में पहुँच गईं।

प्रेम की त्रिपथ-गामिनी मन्दाकिनी वक्र मार्ग से प्रवाहित हो, चाहे सरल पथ से, वह अन्त में विलीन होती है, उसी अनन्त महासागर में, उसी अतुल, नित्य-परिपूर्ण, विशाल सौन्दर्य्यरत्नाकर में।

पं० ज्वालादत्त शर्मा

(जन्म-संवत् १९४५ वि०)

कहानी-लेखक और समालोचक

शर्माजी हिन्दी के प्राथमिक कहानी-लेखकों में हैं। 'सरस्वती' में ये उस समय लिखते थे, जिस समय बहुत थोड़ी मौलिक कहानियाँ लिखी जाती थीं। इस दृष्टि से हिन्दी की कहानी-कला के उन्नायकों में आपका प्रमुख स्थान है। आपके ही पथ पर पीछे से और लोग चले। शर्माजी की वर्णन-शक्ति प्रशंसनीय है। समाज के करुण दृश्य दिखाने में उनकी लेखनी प्रायः अग्रसर रहती है। आपकी भाषा सरल और कहानियों के विशेष उपयुक्त होती है।

विधवा

१

राधाचरण की अकाल मृत्यु से उसके चचा-चाची को बहुत शोक हुआ। किन्तु अभागिनी पार्वती के लिए तो संसार ही अन्धकार-मय हो गया। उसके लिए तो संसार में आशा, उत्साह और सुख का सोलहो आने नाश हो गया। उसने इस घोर दुःख को, इस अनभ्र वज्रपात को, दिल का खून करके, किसी तरह सहन किया। वह न रोई, न चिल्लाई। उसने इस असह्य दुःख को मन की पूरी ताकत से चुपचाप सहन किया। शोक के भारी बोझ से पार्वती का सुकोमल मन निस्सन्देह चूर-चूर हो गया। किन्तु विधि के इस विपरीत विधान में किसी का क्या वश था!

राधाचरण के चचा, रामप्रसाद, औसत दर्जे के आदमी थे। राधाचरण के पिता, गुरुप्रसाद का देहान्त, जब उसकी अवस्था पाँच वर्ष की थी तभी, हो गया था। सुनीति माता भी, पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही, स्वर्ग-लोक-गामिनी हो गई थी। इसलिए बालक राधाचरण का पालन-पोषण चचा रामप्रसाद और उनकी पत्नी हरदेवी ने ही किया था। उनके पास कुछ पैत्रिक मिलकियत थी, जिसकी आमदनी से घर का खर्च चलता था। रहने का पक्का मकान था। पर इस पैत्रिक मिलकियत और रहने के मकान में—जायदाद का क्षय-रोग—कर्जे के कीटाणुओं ने प्रवेश कर लिया था। रामप्रसाद ने अपनी कन्या चमेली के विवाह में शहर के मूर्ख और निठल्ले आदमियों के मुँह से चिकनी-चुपड़ी बातें सुनने के लिए बहुत रुपया बरबाद किया था। विवाह के बाद, कोई एक सप्ताह तक, पकवान की सुगन्ध के साथ-साथ रामप्रसाद की इस मूर्खता-पूर्ण उदारता की बू भी महल्ले में सर्वत्र, और शहर में यत्र-तत्र, फैल रही थी। खस्ता कचौरी, मोतीचूर के लड्डू, गोल बालूशाही, कुरकरी इमरती और मसालेदार तरकारियों के साथ-साथ नये चमकते हुए 'इन्दुसम उज्ज्वल' रूपराज की दक्षिणा की बात जहाँ-तहाँ

होती थी। किन्तु रामप्रसाद के यश की उस स्निग्ध चाँदनी में, उसके विमल यश की सफेद चादर में, कोई कलंक न हो, कोई धब्बा न हो, सो बात नहीं। दुष्ट समालोचक, जिन्होंने ज्यौनार में कई दिनों पहले से अल्पाहार करते रहने के कारण, बुरी तरह खस्ता कचौरी और मेवा मिली मुलायम मिठाइयों का ध्वंस किया था, अपने दुष्ट पर प्रकृतिदत्त स्वभाव से मजबूर होकर बाल की खाल निकालने और रामप्रसाद की दूध की गंगा में विष मिलाने लगे। कोई कहता था—कचौरियों में मोयन कम डाला गया और कोई बताता था कि शाक में नोन ज्यादा हो गया था। कोई लड्डुओं की बूंदी को ठोस, तो कोई बेसन की बरफी को सख्त करार देता था। मतलब यह कि रामप्रसाद की मूर्खता का श्राद्ध करनेवाले नरपुंगवों की भी कमी न थी। किन्तु घरों की मालकिनें, जिन्होंने अपने बच्चों से रुपये छीनकर बटुओं में भर लिये थे और इस तरह एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया था, रामप्रसाद की प्रशंसा अपनी प्रलयंकरी बुद्धि की सहायता से शत-शत मुख से कर रही थीं। इस प्रशंसा-रूप बीमारी का दौरा भी एक महीने से अधिक न रहा। हलवाइयों के हिसाब के साफ होते ही लोगों के बेकार अतएव खाली दिमाग भी इस खब्त से खाली हो गये। छः मास के बाद, रामप्रसाद के उसकाने पर भी किसी को लड्डुओं की बूँदियों में तरावट मालूम न होती थी—कोई उस विषय का उत्थान न करता था। इससे रामप्रसाद के श्लाघा सुनने के अभिलाष पर तुषार-पात हो जाया करता था, किन्तु उसकी आशालता को पल्लवित करनेवाला सूदखोर छज्जूमल महाजन 'पड़ोस'—का हक, करीब-करीब रोज निभा देता था।

जिस साल रामप्रसाद की लड़की—चमेली का विवाह हुआ था, उसी साल राधाचरण बी० ए०—में तीसरे नम्बर पर पास हुआ था। राधाचरण को स्कूल से ही, उसकी योग्यता के कारण छात्रवृत्ति मिलती थी। पर बी० ए०—की फीस और किताबों के लिए चचा रामप्रसाद ने १५०) उसे जरूर दिए थे। उसी साल 'गरीबनिवाज' लाला छज्जूमल यथानियम अगले-पिछले जोड़कर रामप्रसाद से पाँच हजार रुपयों की दस्तावेज लिखाकर

उसकी 'इज्जत' बचाई थी। कोई तीन हजार रुपये उसने लड़की के विवाह में स्वाहा किये थे। किन्तु कर्ज का प्रसंग उठते ही रामप्रसाद भतीजे की पढ़ाई का उल्लेख करते थे। उनके हिसाब से यदि राधाचरण न पढ़ता तो उन्हें ऋणी न बनना पड़ता। छोटी-छोटी बातों पर रामप्रसाद राधाचरण से कहते थे—"अभी तूने मेरी क्या सेवा की है? एक साल से पचास रुपये महीना कमाने लगा है। मुझे देख, तेरी पढ़ाई के कारण ही तबाह हो गया। इतना देना हो गया।"

सुशील राधाचरण अपने मूर्ख चचा की बात का उत्तर न देता था। नीची गर्दन करके वह सब कुछ सुन लेता था।

राधाचरण की मृत्यु से चचा और चाची को बेशक बहुत दुःख हुआ, पर दुःख की उस तीव्र आग में जलते हुए भी रामप्रसाद ने राधाचरण के कारण कर्जदारी का जिक्र करने की प्रवृत्ति को बड़े यत्न से सुरक्षित रक्खा।

२

शोक की प्रबल लहरों में बही जानेवाली रामप्रसाद-दम्पती ने अपने धेवते का सहारा पाकर बहुत कुछ शान्ति लाभ किया। भाद्रपद की वर्षा के बाद जिस तरह सूर्य और अधिक असह्य हो उठता है, उसी तरह शोक-सागर में स्नान करके रामप्रसाद-दम्पती का कठोर हृदय और अधिक सख्त हो गया। अब वे बात बात में कहते थे—"राधे हमें मार गया। वह हमारा भतीजा नहीं, शत्रु था। हमें बरबाद करने आया था।"

पार्वती शोक-महानद की जिस प्रबल लहर में बही जा रही थी, उसमें तिनके का भी सहारा नहीं था। वह थी और अनन्त शोक की अनन्त लहरी थी। उसके लिए भाद्रपद के तरुण सूर्य की प्रखर धूप उत्ताप-हीन थी—प्रकाशहीन थी। शरत्काल के लुभावने चन्द्रमा की चिकनी चाँदनी उसके लिए सिंह के सूर्य्य की धूप से कहीं अधिक प्रखर थी। उसके मन में शोक की प्रचंड अग्नि धू-धू जल रही थी। बाहर रामप्रसाद-दम्पती का कठोर व्यवहार उस अबला को बेदम किये देता था। शोक की अनन्त ज्वाला में, अनन्त विरह के प्रचंड अनल में, निराशा के घने अन्धकार में, उपेक्षा के

दुर्गन्ध-पूर्ण संसार में—सब कहीं—उसे परलोक-गत पति का पूत और पवित्र मुखपद्म दिखाई देता था, मानों वह उससे मौन भाषा में कहता था—"प्रिये पार्वती, धैर्य धारण करो, त्रिताप-दग्ध संसार में जब तक हो, जैसे बने काल-यापन कर दो। स्वर्ग में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं तुम्हें अवश्य मिलूँगा, क्योंकि तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा हूँ।"

पार्वती का छलनी की तरह छिदा हुआ हृदय शान्त हो जाता था। रामप्रसाद-दम्पती का कठोर व्यवहार उसके लिए सुकोमल हो जाता था। संसार भी उसकी दृष्टि में उतनी घृणा का पात्र नहीं रहता था; उस पर से उसकी विरक्ति की मात्रा कम हो जाती थी। संसार के अन्तरिक्ष में ही, इसी संसार के आकाश में ही, उसके परलोकवासी पति के प्रभा-पूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब-नभ्याकाश में न सही, हृदयाकाश में ही सही—दिखाई पड़ता था। इसलिए संसार उसके लिए उतना हेय नहीं रहता था; कुछ काम की चीज हो जाता था।

सास के कुलिशसम कठोर वाक्यों और उससे भी बढ़कर परुष-तर पार्थिव व्यवहारों को वह अनायास सह लेती थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े पति के ज्योतिर्हीन नेत्रों का कातर भाव उसे कभी न भूलता था। उसके आखिरी शब्द—"प्रिये पार्वती—" आज भी उसके कानों में गूँज रहे थे। उस कातर भाव की शब्द-हीन भाषा का मर्म भी उसने ठीक-ठीक समझ लिया था। चचा-चाची का कठोर स्वभाव और पार्वती के पीसाल की शोचनीय अवस्था ही उस कातर भाव का प्रधान उपादान थी।

पार्वती हिन्दी-मिडिल पास थी। राधाचरण ने बड़े आग्रह से उसे अँगरेजी भी पढ़ाई थी। उसका विचार था कि वह उससे प्रवेशिका परीक्षा दिलायेगा, किन्तु उसकी अकाल मृत्यु ने, बहुत-सी अन्य बातों के साथ, उस विचार को भी कार्य में परिणत न होने दिया।

पति की मृत्यु के बाद अभागिनी पार्वती को पुस्तक छूने का मौका ही न मिलता था। घर में उसकी कोई सत्ता ही न थी। सास राधाचरण की मृत्यु का कारण उसे ही समझती थी। पार्वती अन्न पीसती है, चौका-

बरतन साफ करती है; भोजन बनाती है, किन्तु फिर भी सास-ससुर की सहानुभूति का पात्र नहीं बनती। फिर भी उनके मुँह से कभी मीठी बात नहीं सुनती। सुनती है, कर्जदारी का कारण, अपने दुर्भाग्य की गाथा और कभी-कभी गूढ़ प्रेम के परदे में पति की निन्दा।

पार्वती को कुटिलता-पूर्ण संसार में सहानुभूति का चिह्न कहीं दिखाई न देता था। उसके एक चचेरा भाई था; वह कहीं चपरासी था। पर था विवाहित। इसलिए गरीबी का मेवा सन्तान की बहुतायत से माला-माल था। अत्यन्त गर्मी पड़ने के बाद वर्षा होती है। बहुत तप चुकने पर धरा-धाम जल की अनन्त धाराओं से प्लावित हो जाता है। पार्वती ने भी निराशा के घोर अन्तकार में, सास-ससुर के कठोर व्यवहाररूप नरक में, उपेक्षा के समुद्र में, शोक के महासागर में, ध्रुव तारे का दर्शन किया। उसे देख-कर दिग्भ्रष्टा पार्वती ने कर्त्तव्य-पथ का निश्चय कर लिया। सामने खड़ी आलमारी में भरी हुई पुस्तकें उसे मानों अपनी-अपनी भाषा में सान्त्वना देने लगीं। वे कहने लगीं—"पार्वती, तू लिखी-पढ़ी है, हम तेरी साथिन हैं। दुःख में, शोक में, सन्ताप में सदा-सर्वदा, हम तेरी साथिन हैं। हमें घृणा करना नहीं आता, उपेक्षा करनी नहीं आती, हमसे भले कोई दिक हो जाय, हम किसी से दिक नहीं होतीं।" पुस्तकों की विभिन्न, पर मौन-भाषा को उसने साफ-साफ समझा। उसके भग्न हृदय में शान्ति की अस्फुट किरण का उदय हुआ। आलमारी की चुनी हुई किताबों में उसने साक्षात् अभयदा सरस्वती के दर्शन किये। बहुत समय के बाद मानों माँ सरस्वती के इशारे से ही उसने आलमारी में से एक पुस्तक निकाली। पुस्तक थी सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार स्माइल्स साहब की Self-Helf या आत्मावलम्बन। चटाई पर बैठकर पार्वती उसे पढ़ने लगी।

पुस्तक के अभी दो ही चार पृष्ठ पढ़े होंगे कि रामप्रसाद की स्त्री वहाँ आ पहुँची। पार्वती को पुस्तक पढ़ते देखकर उसके शरीर में आग लग गई। उसने अपने अभ्यस्त अनेक कुवाक्यों का विष उगलकर अन्त में कहा—"पुस्तकें पढ़कर ही तू राधे को चट कर गई। तू नार नहीं नागन है।

भगवान्, भगवान्! मेरे घर में ऐसी डायन कहाँ से आ गई! वह था—तबाह कर गया, तू है—तबाह करने की फिक्र में है।"

हिरन के बच्चे पर शेरनी को गुर्राता देखकर जिस तरह उसका प्रणयी शेर भी गरजने लगता है उसी तरह रामप्रसाद भी गरीब पार्वती पर टूट पड़ा। उसने भी स्वस्तिवाचन के बाद कहा—ठीक तो कहती है, यह नार नहीं, नागन है। कहीं को मुँह काला भी तो नहीं करती। मैं ऐसी नागन को पालना नहीं चाहता। उसे खा गई। अब मुझे खायगी क्या?

इधर रामप्रसाद बक रहा था, उधर पार्वती के हृदय में अनेक तरंगे उठ रही थीं, उन्हीं तरंगों में उसने अपने पति राधाचरण के दर्शन किये। इस समय उसकी आँखों में कातरता के साथ-साथ दुःख भी था, विषाद भी था और अभागिनी पार्वती के लिए थी—गहरी सहानुभूति। स्माइल्स साहब की आत्मा भी अबला पार्वती को पुस्तक के रूप में खूब बल-प्रदान कर रही थी। पार्वती ने पुस्तक को बन्द कर दिया। पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर सोने के अक्षरों में छपे Self-Help के मनोहर शब्द पार्वती के अश्रुपूर्ण नेत्रों को अपनी ओर खींचने लगे।

३

दूसरे दिन प्रातःकाल पार्वती ने बड़ी शान्ति से अपनी सास को समझा दिया कि वह कुछ दिनों के लिए अपने भाई के पास जाना चाहती है। आप उसे एक चिट्ठी लिखवा दीजिए।

सास को मनचाही बात हाथ लग गई। उसने उसी समय स्त्री-जन-सुलभ नमक-मिर्च लगाकर अपने पति रामप्रसाद से कह दिया। उन्होंने पहले तो 'हाँ' 'हूँ' की। फिर धर्म और स्वभाव की साथिनी स्त्री के कहने-सुनने पर सुखदयाल को एक चिट्ठी लिख दी।

चार दिन बाद बहू चली [illegible]; बहू के साथ अधिक कठोर व्यवहार न करना चाहिए, यह सोचकर रामप्रसाद-दम्पती का व्यवहार पार्वती के साथ अपेक्षाकृत अच्छा हो गया है। घर के कामों के

साथ अब उसे गालियों का बोझा वहन नहीं करना पड़ता। पर कर्जदारी के कारण का जिक्र यथानियम प्रतिदिन एक-दो बार हो जाता है।

राधाचरण को मरे अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ था। इसी थोड़े समय में ही घर की हरएक चीज पार्वती के लिए बिलकुल बदल गई थी। घर के आदमियों के साथ घर के दरोदीवार भी उसे काटने दौड़ते थे। मूल्य समाप्त न होने के कारण अभी तक उसके नाम कुछ समाचार-पत्र आते थे। पार्वती समय मिलने पर उन्हें पढ़ लेती थी। आज के 'हितकारी' में उसने 'आवश्यकता' के स्तम्भ को बहुत गौर से पढ़ा।

तीसरे दिन जवाब आ गया कि शनैश्चर की रात को सुखदयाल बहन को लेने के लिए आवेगा। बृहस्पतिवार को पत्र मिला था। पार्वती को सिर्फ दो रोज का मिहमान समझकर सास और ससुर का कठोर हृदय और ढीला पड़ गया। पार्वती की सेवा और उसके कभी न डिगनेवाले शील में उन्हें अब बहुत कुछ भलाई दिखाई देने लगी। विच्छेद के विचार ने निस्सन्देह उनकी मानसिक कलुषता को बहुत कुछ दूर कर दिया।

काल भगवान् किसी की उपेक्षा नहीं करते। सूर्य के रथ का धूरा कभी नहीं टूटता। काल भगवान् के प्रधान सहचर सूर्यदेव सुखी-दुःखी—सभी—को पीछे छोड़ते हुए, रथ बढ़ाये चले ही जाते हैं। शनैश्चर की रात को सुखदयाल—दैन्य और दारिद्रय की मूर्ति सुखदयाल—आ गया। वहन को गले लगाकर वह बहुत रोया। दूसरे दिन प्रातःकाल की ट्रेन से वह पार्वती को लेकर घर को रवाना हो गया।

पार्वती ने चलते समय सिर्फ अपने पति की पुस्तकों का एक ट्रंक अपने साथ लिया बाकी न कोई जेवर और न दो धोतियों को छोड़कर कोई कपड़ा। भरा हुआ घर, जो उसके लिए पहले ही खाली हो चुका था, उसने भी खाली कर दिया। चलते समय सास ने ऊपरी मन से जल्द आने के लिए कहा और स्त्री-जन-सुलभ अश्रुवर्षण का परिहास भी दिखाया।

पार्वती ने निष्कपट मन से जिस समय सास के चरण छुए उस समय गरम-गरम आँसुओं की कुछ बूंदों ने भी हरदेवी के चरण छूने में उसके साथ प्रतियोगिता की!

पार्वती के आने से सुखदयाल की गरीबी का—पर पैतृक, और इसी-लिए पक्का—घर स्वर्ग बन गया। उसके बालक, जो निर्धनता के कारण शिक्षा न पा सकते थे, बुआ पार्वती से पढ़ने लगे। सुखदयाल की बड़ी लड़की शान्ति उससे हिन्दी-शिक्षा के साथ-साथ सिलाई का काम भी सीखने लगी। थोड़े ही दिनों में पार्वती और शान्ति को सूई के प्रताप से कुछ कम दो रुपये रोज की आमदनी होने लगी। पार्वती के कहने पर सुख-दयाल एक अच्छी गाय खरीद लाया अब उसके घर में सब कुछ था। विद्या थी, धन था और गोरस था। सुखदयाल की स्त्री चमेली पार्वती को अपनी समृद्धि का मूल कारण समझती थी। वह उसे साक्षात् देवी समझती थी। प्रातःकाल उठकर उसके चरण छूती थी। घर का हर काम उसकी आज्ञा लेकर करती थी।

एक वर्ष बीत गया। पार्वती हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में हिन्दी पढ़ाती है। इसी वर्ष उसने प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली। ५०) मासिक वेतन मिलता है, अब सुखदयाल के बालक, जो एक वर्ष पहले लावारिस और अवारा घूमते-फिरते थे, साफ कपड़े पहनकर भले बालकों की तरह बगल में पुस्तक दबाये स्कूल जाते हैं। लड़की शान्ति भी पार्वती के साथ स्कूल में काम करती है। देविस्वरूपिणी बहन पार्वती की बदौलत सुखदयाल ने भी चपरासगिरी के कर्कश हाथों से छुटकारा पाकर सौदागरी की दूकान खोल ली है। सुखदयाल का घर भी अच्छा खासा बालिका-विद्यालय था। महल्ले भर की छोटी-बड़ी अनेक लड़कियाँ स्कूल से इतर समय में पढ़ने और सूई का काम सीखने आती थीं। विद्यादान का द्वार सदा उन्मुख रहता था। पार्वती के परोपकार आदि सद्गुणों की प्रशंसा महल्ले से बढ़कर शहर भर में फैल गई थी।

* * * *

चार वर्ष और बीत गये। पार्वती ने प्राइवेट तौर पर पहली कक्षा में बी० ए० पास किया। रायपुर के कलेक्टर की पत्नी ने अपने हाथ से पार्वती की सफेद साड़ी पर प्रतिष्ठा-सूचक मेडल पहनाया। हिन्दू-गर्ल्स-

स्कूल की प्रधान शिक्षयित्री (लेडी प्रिन्सिपल) के पद पर (जिसकी शोभा, उपयुक्त हिन्दू-पंडिता के न मिलने के कारण, अब तक क्रिश्चियन लेडियाँ बढ़ाती रहीं) पंडिता पार्वती का वरण किया गया। शहर भर में पार्वती का यशोगान होने लगा। वेतन भी एकदम २५०) हो गया।

५

रविवार का दिन था। स्कूल के बड़े कमरे में प्रबन्ध-कारिणी समिति के सभ्यों की अन्तरंग सभा हो रही थी। मेम्बर सभी स्त्रियाँ थीं। राय रामकिशोर बहादुर की पत्नी, जो स्कूल की आनरेरी सेक्रेटरी थीं, प्रबन्ध-सम्बन्धी अनेक विषय पेश कर रही थीं। रायबहादुर की पत्नी ने कहा —अब मैं आज की बैठक का आखिरी विषय अर्थात् स्कूल के चपरासी के काम के लिए आई हुई दरखास्तें पेश करती हूँ। मेरी सम्मति में जिन लोगों की दरखास्तें हैं, उन्हें बिना देखे नौकर रखना ठीक न होगा। चपरासी बूढ़ा तो होगा ही, पर साथ-ही-साथ चिड़चिड़ा या जियादह कमजोर भी न होना चाहिए और यह ऐसी बात है जो बिना देखे ठीक नहीं हो सकती। अब मैं इस विषय में आपकी या बाईजी की (मतलब था प्रिन्सिपल पार्वती से) जैसी आज्ञा हो वैसा करूँ।

उपस्थित अन्य तीन महिलाओं ने एक-स्वर से कहा—इस विषय में बाईजी के आज्ञानुसार ही काम होना चाहिए, क्योंकि बाईजी की आज्ञाएँ वहन करने और दरबानी के लिए ही चपरासी की नियुक्ति होगी।

पार्वती ने अपने शान्त, पर प्रभा-पूर्ण, मुख-कमल को खिलाते हुए कहा—मैं रायबहादुर की पत्नी से सहमत हूँ। आदमी को देखकर ही रखना अच्छा होगा। मनुष्य के चेहरे से उसके गुण-दोषों का बहुत पता लग जाता है। उस दिन 'रैशनल थाट' में मिस्टर अरंडेल का, आपने, सेक्रेटरी महोदया ! उद्गार इसी विषय पर एक लेख पढ़ा था ?

रायबहादुर की पत्नी ने कहा—पढ़ा तो था। पर समझा था कम। आजकल आपका पूरा समय और शक्ति 'विधवा-आश्रम' की स्थापना में लग रही है। इस तरह आप देश की बड़ी भारी सेवा कर रही हैं;

आपका कुछ भी समय खाली होता तो मैं आपसे अँगरेजी-साहित्य का थोड़ा-बहुत अध्ययन करके अपनी इस कमी को जरूर पूरा करती। पर मेरे मूर्ख रह जाने से देश की विधवाओं की दुःख-भरी शोचनीय अवस्था को सुधार देनेवाले 'विधवा-आश्रम' की स्थापना कहीं बढ़कर आवश्यक और एकान्त कर्तव्य है।

पार्वती ने मुस्कुराते हुए कहा—धन्यवाद। आपकी सहायता और ईश्वर की कृपा से ही यह काम पूरा हो सकेगा। आप सुनकर प्रसन्न होंगी कि हमारे प्रजा-प्रिय छोटे लाट महोदय ने हिमालय-पार्श्व के उस बड़े भू-खंड को विधवा-आश्रम के लिए देने की कृपा की है। चन्दा भी कुछ कम एक लाख हो गया है। ईश्वर की कृपा हुई तो अब यह कार्य शीघ्र ही पूर्ण हो जायगा।

रायबहादुर की पत्नी ने बड़े हर्ष के साथ कहा—अब काम के पूरा होने में कुछ सन्देह नहीं। जिस दिन आपने आश्रम के लिए अपना जीवन देने का महा प्रण किया था हमें क्या, देश के सभी हितैषियों को, उसी दिन काम के पूरा होने का पक्का भरोसा हो गया था।

पार्वती ने बड़ी सरलता से कहा—बहन, धन्यवाद। हाँ तुम्हारी अँगरेजी-साहित्य पढ़ने की बात रही जाती है। उसके विषय में मेरा निवेदन है कि आप रायबहादुर साहब से पढ़ें। स्त्रियों के लिए पति से बढ़कर शिक्षक और कोई नहीं। लड़कियों को तो माता-पिता या अन्य कोई शिक्षक पढ़ा सकता है। पर स्त्रियों का, या साहित्य की भाषा में प्रौढ़ाओं का, परम गुरु और शिक्षक पति ही है। आशा है, आप मुझे इस वक्तव्य के लिए क्षमा करेंगी।

रायबहादुर की पत्नी ने सौजन्य दिखाते हुए लेडी प्रिन्सिपल का धन्यवाद किया और साथ ही सभा का कार्य भी समाप्त कर दिया।

६

कंगाल भारत की विभूति का कल्पित स्वप्न देखकर आज भी अनेक विदेशी चौंक उठते हैं। किन्तु जिन लोगों ने भारत के गाँव देखे हैं, एक

वस्त्रधारी कृश-काय अस्थि-चर्म्मविशिष्ट भारत-गौरव किसानों को देखा है, वे भारत की विभूति को खूब समझते हैं।

गर्ल्स स्कूल में आठ रुपये की चपरास के लिये इतने आदमी आवेंगे—किसी को खयाल भी न था। अनेक बूढ़े आदमी पाँत बाँधे बैठे थे। रायबहादुर की पत्नी और सेकेंड मिस्ट्रेस सुशीला देवी ने उस भीड़ में-से चार आदमियों को चुन लिया। इन्हीं में-से एक को बड़ी बाईजी चुनेंगी। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में परदे और सदाचार का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिए किसी नौकर की नियुक्ति के विषय में बहुत सावधानता से काम लेना पड़ता है। स्कूल भर में सिर्फ चपरासी का काम ही बूढ़े मर्द के सिपुर्द था, बाकी सब कामों पर स्त्रियाँ ही नियुक्त थीं।

दस बजते-बजते लेडी प्रिन्सिपल की गाड़ी स्कूल के बरामदे में पहुँच गई। विभिन्न कक्षाओं की विभिन्न पंक्तियों में खड़ी बालिकाओं ने बड़ी श्रद्धा से प्रधानाध्यापिका को प्रणाम किया। गाड़ी से उतरकर वे सीधी आफिस में पहुँची। रायबहादुर की पत्नी वहाँ पहले ही से उपस्थित थीं। प्रिन्सिपल के पहुँचने पर दासी ने बारी-बारी से उन चारों आदमियों को बुलाया।

पहले आदमी को देखते ही पार्वती के विस्मय का ठिकाना न रहा। वह बूढ़ा आदमी और कोई न था—अभागा रामप्रसाद था। उसे देखकर पंडिता पार्वती के हृदय में क्षण भर के लिए लज्जा का उदय हुआ। किन्तु उसने तत्काल ही अपने को सँभाल लिया।

सौ मील की दूरी पर आठ रुपये की नौकरी के लिए वह क्यों आया है? मालूम होता है, उसकी मिलकियत और मकान चाटुकार पड़ोसी सूदखोर की विशाल तोंद में जरूर समा गया है। रामप्रसाद के मलिन और चिन्तित मुख को देखकर करुण-हृदया पार्वती के मन का अन्तस्तल तक हिल गया। उसने दूसरी तरफ को मुँह करके अनमने भाव से सन्देह-निवारण के लिए पूछा—"आपका नाम?"

"रामप्रसाद पांडे।"

"मकान ?"

"बिलासपुर।"

"इतनी दूर नौकरी के लिए क्यों आए ?"

"माँ, पेट की खातिर !"

"घर पर खेती-बारी न थी ?"

"माँ, सब कुछ था; खेती क्या, जमींदारी भी थी।"

"वह क्या हुई ?"

"कर्ज में बिक गई।"

"कर्ज क्यों लिया था ?"

"माँ, दुःख की बातें हैं, उन्हें भूल जाना ही अच्छा है।"

"फिर भी सुनाइये तो ?"

"भतीजे की पढ़ाई के लिए।"

"और क्या ?"

"और कुछ नहीं—"

"लड़की की शादी में तो फजूलखर्ची नहीं की थी ?"

बूढ़े का चेहरा उतर गया। उसने पार्वती का चेहरा कभी न देखा था और अब तो विद्या, मान और अधिकार की दीप्ति ने उसे बिलकुल ही बदल दिया था। बूढ़ा बाईजी को मन-ही-मन देवी समझने लगा। रायबहादुर की पत्नी भी इस प्रश्नोत्तरी को एकाग्र मन से सुन रही थीं।

"माँ, तुम देवी हो। सचमुच ही लड़की की शादी में ही बरबाद हूँ।"

"तो भतीजे की पढ़ाई के लिए कुछ-न-कुछ रुपया कर्ज लेना पड़ा होगा ?"

"माँ, सिर्फ डेढ़ सौ रुपये।"

कहते-कहते बूढ़े के कोटर-लीन नेत्रों में आँसू भर आये।

"अच्छा, आप बाहर बैठिए।"

बाकी तीन आदमियों में-से एक आदमी चुन लिया गया। बूढ़ा राम-प्रसाद उसी समय लेडी प्रिन्सिपल के बँगले पर पहुँचाया गया।

श्रीप्रेमचन्द

•

(जन्म—संवत्—१९३७ वि० निधन-संवत् १९९३ वि०)

उपन्यासकार और कहानी-लेखक

प्रेमचन्दजी का पहला नाम मुन्शी धनपतराय था। प्रारम्भ में इनको उर्दू और अंग्रेजी आदि की शिक्षा मिली, हिन्दी इन्होंने आगे चलकर पढ़ी। विशेष समृद्ध परिवार के न होने के कारण आपको जीवन में कठिन परि-स्थितियों का सामना करना पड़ा, जिससे अनुभव की विशेष वृद्धि हुई। ग्रामीण-जीवन का जैसा विस्तृत और सर्वतोमुखी परिचय इन्हें था बहुत कम लोगों को होगा। सामयिक समस्याओं और स्थितियों को समझने की इनकी चेष्टा सराहनीय है। सामाजिक अथवा सामूहिक चित्रण की ओर विशेष रीति से आकर्षित रहने के कारण, व्यक्ति के सूक्ष्म मनोभावों तक इनकी दृष्टि सर्वत्र नहीं गई। इनके स्त्री-चित्रणों में नारी-प्रकृति की विशे-षताएँ कम आई हैं और इनके उपन्यासों में कहीं-कहीं उपदेशक मनोवृत्ति का अधिकार हो गया है। परंतु इनकी रचनाएँ अद्भुत-वर्णन-शक्ति से समन्वित, मीठी चुटकियों की सहायता से प्रभावशालिनी और आदर्शात्मक मनोविज्ञान से चमत्कारपूर्ण हुई हैं। इनकी 'फातिहा' नामक कहानी जो यहाँ दी जा रही है उक्त दृष्टियों से इनकी श्रेष्ठ रचना है।

फातिहा

१

सरकारी अनाथालय से निकालकर मैं सीधा फौज में भरती किया गया। मेरा शरीर हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ था। साधारण मनुष्यों की अपेक्षा मेरे हाथ-पैर कहीं लम्बे और स्नायु-युक्त थे। मेरी लम्बाई पूरी छः फीट नौ इंच थी। पलटन में मैं 'देव' के नाम से विख्यात था। जब से मैं फौज में भरती हुआ, तब से मेरी किस्मत ने भी पलटा खाना शुरू किया। और मेरे हाथ से कई ऐसे काम हुए, जिनसे प्रतिष्ठा के साथ-साथ मेरी आय भी बढ़ती गई। पलटन का हरएक जवान मुझे जानता था। मेजर सरदार हिम्मतसिंह की कृपा मेरे ऊपर बहुत थी; क्योंकि मैंने एक बार उनकी प्राण-रक्षा की थी, इसके अतिरिक्त न-जाने क्यों उनको देखकर मेरे हृदय में भक्ति और श्रद्धा का संचार होता। मैं यही समझता कि यह मेरे पूज्य हैं, और सरदार साहब का भी व्यवहार मेरे साथ स्नेह-युक्त और मित्रता-पूर्ण था।

मुझे अपने माता-पिता का पता नहीं है, और न उनकी कोई स्मृति ही है। कभी-कभी जब मैं इस प्रश्न पर विचार करने बैठता हूँ, तो कुछ धुंधले-से दृश्य दिखाई देते हैं—बड़े-बड़े पहाड़ों के बीच में रहता हुआ एक परिवार, और एक स्त्री का मुख, जो शायद मेरी माँ का होगा। पहाड़ों के बीच में तो मेरा पालन-पोषण ही हुआ है। पेशावर से ८० मील पूर्व एक ग्राम है जिसका नाम 'कुलाहा' है, वहीं पर एक सरकारी अनाथालय है। इसी में मैं पाला गया। यहाँ से निकलकर सीधा फौज में चला गया। हिमालय के जलवायु से मेरा शरीर बना है, और मैं वैसा ही दीर्घाकृति और बर्बर हूँ, जैसे कि सीमाप्रान्त के रहनेवाले अफ्रीदी, गिलजई, महसूदी आदि पहाड़ी कबीलों के लोग होते हैं। यदि उनके और मेरे जीवन में कुछ अन्तर है, तो वह सभ्यता का। मैं थोड़ा-बहुत

पढ़-लिख लेता हूँ, बात-चीत कर लेता हूँ, अदब-कायदा जानता हूँ। छोटे-बड़े का लिहाज कर सकता हूँ; किन्तु मेरी आकृति वैसी ही है, जैसी कि किसी भी सरहदी पुरुष की हो सकती है।

कभी-कभी मेरे मन में यह इच्छा बलवती होती कि स्वच्छन्द होकर पहाड़ों की सैर करूँ, लेकिन जीविका का प्रश्न मेरी इच्छा को दबा देता। उस सूखे देश में खाने का कुछ भी ठिकाना नहीं था। वहीं के लोग एक रोटी के लिए मनुष्य की हत्या कर डालते, एक कपड़े के लिए मुरदे की लाश चीर-फाड़कर फेंक देते, और एक बन्दूक के लिए सरकारी फौज पर छापा मारते हैं। इसके अतिरिक्त उन जंगली जातियों का एक-एक मनुष्य मुझे जानता था और मेरे खून का प्यासा था। यदि मैं उन्हें मिल जाता, तो जरूर मेरा नाम-निशान दुनिया से मिट जाता। न-जाने कितने अफ्रीदियों और गिलजइयों को मैंने मारा था, कितनों को पकड़कर सरकारी जेलखाने में भर दिया था, और न-मालूम उनके कितने गाँवों को जलाकर खाक कर दिया था। मैं भी बहुत सतर्क रहता, और जहाँ तक होता, एक स्थान पर एक हफ्ते से अधिक कभी न रहता।

२

एक दिन मैं मेजर सरदार हिम्मतसिंह के घर की ओर जा रहा था। उस समय दिन के दो बजे थे। आजकल छुट्टी-सी थी; क्योंकि अभी हाल ही में कई गाँव भस्मीभूत कर दिये गये थे और जल्दी उनकी तरफ से कोई आशंका नहीं थी। हम लोग निश्चिन्त होकर गप्प और हँसी-खेल में दिन गुजारते थे। बैठे-बैठे दिल घबरा गया था, सिर्फ मन बहलाने के लिए सरदार साहब के घर की ओर चला, किन्तु रास्ते में एक दुर्घटना हो गई। एक बूढ़ा अफ्रीदी, जो अब भी एक हिन्दुस्थानी जवान का सिर मरोड़ देने के लिए काफी था, एक फौजी जवान से भिड़ा हुआ था। मेरे देखते-देखते उसने अपनी कमर से एक तेज छुरा निकाला और उसकी छाती में घुसेड़ दिया। उस जवान के पास एक कारतूसी बन्दूक थी, बस उसी के लिए यह सब लड़ाई थी। पलक मारते-मारते फौजी जवान का काम-तमाम हो

गया और बूढ़ा बन्दूक लेकर भागा। मैं उसके पीछे दौड़ा; लेकिन दौड़ने में वह इतना तेज़ था कि बात-की-बात में आँखों से ओझल हो गया। मैं भी बेतहाश उसका पीछा कर रहा था। आखिर सरहद पर पहुँचते-पहुँचते मैं उससे बीस हाथ की दूरी पर रह गया। उसने पीछे फिरकर देखा, मैं अकेला उसका पीछा कर रहा था। उसने बन्दूक का निशाना मेरी ओर साधा। मैं फौरन ही जमीन पर लेट गया और बन्दूक की गोली मेरे सामने के पत्थर पर लगी। उसने समझा कि मैं गोली का शिकार हो गया। वह धीरे-धीरे सतर्क पदों से मेरी ओर बढ़ा। मैं साँस खींचकर लेट गया। जब वह बिल्कुल मेरे पास आ गया, शेर की तरह उछलकर मैंने उसकी गरदन पकड़कर जमीन पर पटक दिया और छूरा निकालकर उसकी छाती में घुसेड़ दिया। अफ्रीदी की जीवन-लीला समाप्त हो गई। इसी समय मेरी पलटन के कई लोग भी आ पहुँचे। चारों तरफ से लोग मेरी प्रशंसा करने लगे। अभी तक मैं अपने आपे में न था; लेकिन अब मेरी सुध-बुध वापस आई। न मालूम क्यों उस बुड्ढे को देखकर मेरा जी घबराने लगा। अभी तक न मालूम कितने ही अफ्रीदियों को मारा था; लेकिन कभी भी मेरा हृदय इतना घबराया न था। मैं जमीन पर बैठ गया, और उस बुड्ढे की ओर देखने लगा। पलटन के जवान भी पहुँच गये और मुझे घायल जानकर अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगे। धीरे-धीरे मैं उठा और चुपचाप शहर की ओर चला। सिपाही मेरे पीछे-पीछे उसी बुड्ढे की लाश घसीटते हुए चले। शहर के निवासियों ने मेरी जय-जयकार का ताँता बाँध दिया। मैं चुपचाप मेजर सरदार हिम्मतसिंह के घर में घुस गया।

सरदार साहब उस समय अपने खास कमरे में बैठे हुए कुछ लिख रहे थे। उन्होंने मुझे देखकर पूछा—क्यों, उस अफ्रीदी को मार आए?

मैंने बैठते हुए कहा—जी हाँ, लेकिन सरदार साहब, न जाने क्यों मैं कुछ थोड़ा बुजदिल हो गया हूँ।

सरदार साहब ने आश्चर्य से कहा—असद खाँ और बुजदिल! यह दोनों एक जगह नामुमकिन है।

मैंने उठते हुए कहा—सरदार साहब, यहाँ तबीयत नहीं लगती, उठकर बाहर बरामदे में बैठिये। न मालूम क्यों मेरा दिल घबराता है।

सरदार साहब उठकर मेरे पास आए और स्नेह से मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—असद, तुम दौड़ते-दौड़ते थक गये हो, और कोई बात नहीं है। अच्छा चलो, बरामदे में बैठें। शाम की ठंडी हवा तुम्हें ताजा कर देगी।

सरदार साहब और मैं, दोनों बरामदे में जाकर कुरसियों पर बैठ गये। शहर के चौमुहाने पर उसी वृद्ध की लाश रक्खी थी, और उसके चारों ओर भीड़ लगी हुई थी। बरामदे में जब मुझे बैठे हुए देखा, तो लोग मेरी ओर इशारा करने लगे। सरदार साहब ने यह दृश्य देखकर कहा—असद खाँ, देखो, लोगों की निगाह में तुम कितने ऊँचे हो। तुम्हारी वीरता को यहाँ का बच्चा-बच्चा सराहता है। अब भी तुम कहते हो कि मैं बुजदिल हूँ।

मैंने मुस्कुराकर कहा—जब से इस बुड्ढे को मारा है, तब से मेरा दिल मुझे धिक्कार रहा है।

सरदार साहब ने हँसकर कहा—क्योंकि तुमने अपने से निर्बल को मारा है।

मैंने अपनी दिलजमई करते हुए कहा—मुमकिन है, ऐसा ही हो

इसी समय एक अफ्रीदी रमणी धीरे-धीरे आकर सरदार साहब के मकान के सामने खड़ी हो गई। ज्यों ही सरदार साहब ने देखा, उनका मुँह सफेद पड़ गया। उनकी भयभीत दृष्टि उसकी ओर से फिरकर मेरी ओर हो गई। मैं भी आश्चर्य से उनके मुँह की ओर निहारने लगा। उस रमणी का-सा सुगठित शरीर मरदों का भी कम होता है। खाकी रंग के मोटे कपड़े का पायजामा और नीले रंग का मोटा कुरता पहने हुए थी। बलूची औरतों की तरह सिर पर रूमाल बाँध रक्खा था। रंग चम्पई था और यौवन की आभा फूट-फूटकर बाहर निकली पड़ती थी। इस समय उसकी आँखों में ऐसी भीषणता थी, जो किसी के दिल में भय का संचार करती। रमणी की आँखें सरदार साहब की ओर से फिरकर

मेरी ओर आई और उसने यों घूरना शुरू किया कि मैं भी भयभीत हो गया। रमणी ने सरदार साहब की ओर देखा और फिर जमीन पर थूक दिया और फिर मेरी ओर देखती हुई धीरे-धीरे दूसरी ओर चली गई।

रमणी को जाते देखकर सरदार साहब की जान में जान आई। मेरे सिर पर से भी एक बोझ हट गया।

मैंने सरदार साहब से पूछा—क्यों, क्या आप इसे जानते हैं?

सरदार साहब ने एक गहरी ठंडी साँस लेकर कहा—हाँ, बखूबी। एक समय था, जब यह मुझ पर जान देती थी और वास्तव में अपनी जान पर खेल कर मेरी रक्षा भी की थी; लेकिन अब इसको मेरी सूरत से नफरत है। इसी ने मेरी स्त्री की हत्या की है। इसे जब कभी देखता हूँ, मेरे होश-हवास काफूर हो जाते हैं, और वही भयानक दृश्य मेरी आँखों के सामने नाचने लगता है।

मैंने [illegible] स्वर में पूछा—सरदार साहब, उसने मेरी ओर भी तो बड़ी भयानक दृष्टि से देखा था। न मालूम क्यों मेरे भी रोएँ खड़े हो गये थे।

सरदार साहब ने सिर हिलाते हुए बड़ी गम्भीरता से कहा—असद खाँ तुम भी होशियार रहो। शायद इस बूढ़े अफ्रीदी से इसका भी सम्पर्क है। मुमकिन हो यह उसका भाई या बाप हो। तुम्हारी ओर उसका देखना कोई मानी रखता है। बड़ी ही भयानक स्त्री है।

सरदार साहब की बात सुनकर मेरी नस-नस काँप उठी। मैंने बातों का सिलसिला दूसरी ओर फेरते हुए कहा—सरदार साहब, आप इसको पुलिस के हवाले क्यों नहीं कर देते। इसको फाँसी हो जायगी।

सरदार साहब ने कहा—भाई असद खाँ, इसने मेरे प्राण बचाए थे और शायद अब भी मुझे चाहती है। इसकी कथा बहुत लम्बी है। कभी अवकाश मिला तो कहूँगा।

३

सरदार की बातों से मुझे कुतूहल हो रहा था। मैंने उनसे वह वृत्तान्त सुनाने के लिए आग्रह करना शुरू किया। पहले तो उन्होंने टालना चाहा;

पर जब मैंने बहुत जोर दिया तो विवश होकर बोले—असद, मैं तुम्हें अपना भाई समझता हूँ, इसलिए तुमसे कोई परदा न रक्खूँगा। लो सुनो—

असद खाँ, पाँच साल पहले मैं इतना वृद्ध न था, जैसा कि अब दिखाई पड़ता हूँ। इस समय मेरी आयु ४० वर्ष से अधिक नहीं है। एक भी बाल सफेद न हुआ था और उस समय मुझमें इतना बल था कि दो जवानों को मैं लड़ा देता। जर्मनों से मैंने मुठभेड़ ली है और न मालूम कितनों को यमलोक का रास्ता बता दिया। जर्मन-युद्ध के बाद मुझे यहाँ सीमाप्रान्त पर काली पलटन का मेजर बनाकर भेजा गया। जब पहले-पहल मैं यहाँ आया, तो यहाँ पर कठिनाइयाँ सामने आईं; लेकिन मैंने उनकी जरा भी परवाह न की और धीरे-धीरे उन सब पर विजय पाई सबसे पहले यहाँ आकर मैंने पश्तो सीखना शुरू किया। पश्तो के बाद और भी जबानें सीखीं, यहाँ तक कि मैं उनको बड़ी आसानी और मुहाविरों के साथ बोलने लगा; फिर इसके बाद कई आदमियों की टोलियाँ बनाकर देश का अन्तर्भाग भी छीन डाला। इस पड़ताल में कई बार मैं मरते-मरते बचा; किन्तु सब कठिनाइयाँ झेलते हुए मैं यहाँ पर सकुशल रहने लगा। उस जमाने में मेरे हाथ से ऐसे-ऐसे काम हो गए, जिनसे सरकार में मेरी बड़ी नामवरी और प्रतिष्ठा भी हो गई। एक बार कर्नल हैमिलटन की मेम साहब को मैं अकेले छुड़ा लाया था, और कितने ही देशी आदमियों और औरतों के प्राण मैंने बचाये हैं। यहाँ पर आने के तीन साल बाद से मेरी कहानी आरम्भ होती है।

एक रात को मैं अपने 'कैम्प' में लेटा हुआ था। अफ्रीदियों से लड़ाई हो रही थी। दिन के थके-माँदे सैनिक गाफिल पड़े हुए थे। कैम्प में सन्नाटा था। लेटे-लेटे मुझे भी नींद आ गई। जब मेरी नींद खुली तो देखा, कि छाती पर एक अफ्रीदी—जिसकी आयु मेरी आयु से लगभग दूनी होगी—सवार है और मेरी छाती में छुरा घुसेड़ने ही वाला है। मैं पूरी तरह से उसके अधीन था, कोई भी बचने का उपाय न था; किन्तु उस समय मैंने बड़े ही धैर्य से काम लिया और पश्तो भाषा में कहा—मुझे मारो

नहीं, मैं सरकारी फौज म अफसर हूँ, मुझे पकड़ ले चलो, सरकार तुमको रुपया देकर मुझे छुड़ायेगी।

ईश्वर की कृपा से मेरी बात उसके मन में बैठ गई। कमर से रस्सी निकालकर मेरे हाथ-पैर बाँधे और फिर कन्धे पर बोझ की तरह लादकर खेमे से बाहर आया। बाहर मार-काट का बाजार गर्म था। उसने एक विचित्र प्रकार से चिल्लाकर कुछ कहा और मुझे कन्धे पर लादे वह जंगल की ओर भागा। यह मैं कह सकता हूँ कि उसको मेरा बोझ कुछ भी मालूम न होता था, और बड़ी तेजी से भागा जा रहा था। उसके पीछे-पीछे कई आदमी, जो उसी की गिरोह के थे, लूट का माल लिये हुए भागे चले आ रहे थे।

प्रातःकाल हम लोग एक तालाब के पास पहुँचे। तालाब बड़े-बड़े पहाड़ों से घिरा हुआ था। उसका पानी बड़ा निर्मल था और जंगली पेड़ इधर-उधर उग रहे थे। तालाब के पास पहुँच कर हम सब लोग ठहरे। बुड्ढे ने, जो वास्तव में उस गिरोह का सरदार था, मुझे पत्थर पर डाल दिया। मेरी कमर में बड़ी जोर से चोट लगी, ऐसा मालूम हुआ कि कोई हड्डी टूट गई है; लेकिन ईश्वर की कृपा से हड्डी टूटी न थी। सरदार ने मुझे पृथ्वी पर डालने के बाद कहा—क्यों, कितना रुपया दिलायेगा?

मैंने अपनी वेदना दबाते हुए कहा—पाँच सौ रुपये।

सरदार ने मुँह बिगाड़कर कहा—नहीं, इतना कम नहीं लेगा। दो हजार से एक पैसा भी कम मिला, तो तुम्हारी जान की खैर नहीं।

मैंने कुछ सोचते हुए कहा—सरकार, इतना रुपये काले आदमी के लिये नहीं खर्च करेगी।

सरदार ने छुरा बाहर निकालते हुए कहा—तब फिर क्यों कहा था कि सरकार इनाम देगी! ले, तो फिर यहीं मर।

सरदार छुरा लिये मेरी तरफ बढ़ा।

मैं घबड़ाकर बोला—अच्छा, सरदार, मैं तुमको दो हजार दिलवा दूँगा।

सरदार रुक गया और बड़ी जोर से हँसा। उसकी हँसी की प्रति-

ध्वनि ने निर्जीव पहाड़ों को भी कँपा दिया। मैंने मन-ही-मन कहा — बड़ा भयानक आदमी है।

गिरोह के दूसरे आदमी अपनी-अपनी लूट का माल सरदार के सामने रखने लगे। उसमें कई बंदूकें, कारतूस, रोटियाँ और कपड़े थे। मेरी भी तलाशी ली गई। मेरे पास एक छः फायर का तमंचा था। तमंचा पाकर सरदार उछल पड़ा, और उसे फिरा-फिराकर देखने लगा। वहीं पर, उसी समय हिस्सा-बाँट शुरू हो गया। बराबर-बराबर का हिस्सा लगा; लेकिन मेरा रिवालवर उसमें नहीं शामिल किया गया। वह सरदार साहब की खास चीज थी।

थोड़ी देर विश्राम करने के बाद, फिर यात्रा शुरू हुई। इस बार मेरे पैर खोल दिये गये और साथ-साथ चलने को कहा—मेरी आँखों पर पट्टी भी बाँध दी गई, ताकि मैं रास्ता न देख सकूँ। मेरे हाथ रस्सी से बँधे हुए थे, और उसका एक सिरा एक अफ्रीदी के हाथ में था।

चलते-चलते मेरे पैर दुखने लगे; लेकिन उनकी मंजिल पूरी न हुई। सिर पर जेठ का सूरज चमक रहा था, पैर जले जा रहे थे, प्यास से गला सूखा जा रहा था; लेकिन वे बराबर चले जा रहे थे। वे आपस में बातें करते जाते थे; लेकिन अब मैं उनकी एक बात भी न समझ पाता। कभी-कभी एक आध शब्द तो समझ जाता; लेकिन बहुत अंशों में मैं कुछ भी न समझ पाता था। वे लोग इस समय अपनी विजय पर प्रसन्न थे और एक अफ्रीदी ने अपनी भाषा में एक गीत गाना शुरू किया। गीत बड़ा ही अच्छा था।

असद खाँ ने पूछा—सरदार साहब, वह गीत क्या था?

सरदार साहब ने कहा—उस गीत का भाव याद है। भाव यह है कि एक अफ्रीदी जा रहा है, तो उसकी स्त्री कहती है—कहाँ जाते हो?

युवक उत्तर देता है—जाते हैं तुम्हारे लिये रोटी और कपड़ा लाने।

स्त्री पूछती है—और कुछ अपने बच्चों के लिये नहीं लाओगे?

युवक उत्तर देता है—बच्चे के लिये बंदूक लाऊँगा, ताकि जब वह

बड़ा हो, तो वह भी लड़े और अपनी प्रेमिका के लिये रोटी और कपड़ा ला सके।

स्त्री कहती है—यह तो कहो, कब आओगे ?

युवक उत्तर देता है—आऊँगा तभी, जब कुछ जीत लाऊँगा; नहीं तो वहीं मर जाऊँगा।

स्त्री कहती है—शाबास, जाओ, तुम वीर हो, तुम जरूर सफल होगे।

गीत सुनकर मैं मुग्ध हो गया। गीत समाप्त होते-होते हम लोग भी रुक गए। मेरी आँखें खोली गई। सामने बड़ा-सा मैदान था और चारों ओर गुफाएँ बनी हुई थीं, जो उन्हीं लोगों के रहने की जगह थी।

फिर मेरी तलाशी ली गई, और इस दफे सब कपड़े उतरवा लिये गए, केवल पायजामा रह गया। सामने एक बड़ा-सा शिलाखंड रक्खा हुआ था। सब लोगों ने मिलकर उसे हटाया और मुझे उसी ओर ले चले। मेरी आत्मा काँप उठी। यह तो जिन्दा कब्र में डाल देंगे। मैंने बड़ी ही वेदना-पूर्ण दृष्टि से सरदार की ओर देखकर कहा—सरकार तुम्हें रुपया देगी। मुझे मारो नहीं।

सरदार ने हँसकर कहा—तुम्हें मारता कौन है, कैद किया जाता है इस घर में बन्द रहोगे, जब रुपया आ जायगा, छोड़ दिये जाओगे।

सरदार की बात सुनकर मेरे प्राण-में-प्राण आये। सरदार ने मेरी पाकेटबुक और पेंसिल सामने रखते हुए कहा—लो, इसमें लिख दो। अगर एक पैसा भी कम आया, तो तुम्हारी जान की खैर नहीं।

मैंने कमिश्नर साहब के नाम एक पत्र लिखकर दे दिया। उन लोगों ने मुझे उसी अन्ध-कूप में लटका दिया और रस्सी खींच ली।

४

सरदार साहब ने एक लम्बी साँस ली और कहना शुरू किया—असद खाँ, जिस समय मैं उस कुएँ में लटकाया जा रहा था, मेरी अन्तरात्मा काँप रही थी। नीचे घटाटोप अन्धकार की जगह हल्की चाँदनी छाई हुई थी। भीतर से गुफा न बहुत छोटी और न बहुत बड़ी थी। फर्श

खुदुरा था, ऐसा मालूम होता था कि बरसों यहाँ पर पानी की धार गिरी है और यह गढ़ा तब जाकर तैयार हुआ है। पत्थर की मोटी दीवार से वह कूप घिरा हुआ था और उसमें जहाँ-तहाँ छेद थे, जिनसे प्रकाश और वायु आती थी। नीचे पहुँचकर मैं अपनी दशा का हेर-फेर सोचने लगा। दिल बहुत घबराता था। वह काल-कोठरी की यन्त्रणा भोगना भी भाग्य में विधाता ने लिख दिया था।

धीरे-धीरे सन्ध्या का आगमन हुआ। उन लोगों ने अभी तक मेरी कुछ खोज-खबर न ली थी। भूख से आत्मा व्याकुल हो रही थी। बार-बार विधाता और अपने को कोसता। जब मनुष्य निरुपाय हो जाता है, तो विधाता को कोसता है।

अन्त में एक छेद से चार बड़ी-बड़ी रोटियाँ किसी ने बाहर से फेंकीं। जिस तरह कुत्ता एक रोटी के टुकड़े पर दौड़ता है, वैसे ही मैं भी दौड़ा और उन्हें उठाकर उस छेद की ओर देखने लगा; लेकिन फिर किसी ने कुछ न फेंका, और न कुछ आदेश ही मिला। मैं बैठकर रोटियाँ खाने लगा। थोड़ी देर बाद उसी छेद पर एक लोहे का प्याला रख दिया गया, जिसमें पानी भरा हुआ था। मैंने परमात्मा को धन्यवाद देकर पानी उठाकर पिया। जब आत्मा कुछ तृप्त हुई, तो कहा—थोड़ा पानी और चाहिए।

इस पर दीवार की उस ओर एक भीषण हँसी की प्रतिध्वनि सुनाई दी, और किसी ने खनखनाते हुए स्वर में कहा—पानी अब कल मिलेगा। प्याला दे दो, नहीं तो कल भी पानी नहीं मिलेगा।

क्या करता, हारकर प्याला वहीं पर रख दिया।

इसी प्रकार कई दिन बीत गए। नित्य दोनों समय चार रोटियाँ और एक प्याला पानी मिल जाता था। धीरे-धीरे मैं भी इस शुष्क जीवन का आदी हो गया। निर्जनता अब उतनी न खलती। कभी-कभी मैं अपनी भाषा में और कभी-कभी पश्तो में गाता। इससे मेरी तबीयत बहुत कुछ बहल जाती और हृदय भी शान्त हो जाता।

एक दिन रात्रि के समय मैं एक पश्तो गीत गा रहा था। मजनू

झुलसानेवाले बगूलों से कह रहा था—तुममें क्या वह हरारत नहीं है, जो काफलों को जलाकर खाक कर देती है। आखिर वह गरमी मुझे क्यों नहीं जलाती? क्या इसलिए कि मेरे अन्दर खुद एक ज्वाला भरी हुई है?

देखो, जब लैला ढूँढ़ती हुई यहाँ आवे, तो मेरा शरीर बालू से ढक देना, नहीं तो शीशे की तरह लैला का दिल टूट जायगा।

मैंने गाना बन्द कर दिया। इसी समय छेद से किसी ने कहा—कैदी, फिर तो गाओ।

मैं चौंक पड़ा। कुछ खुशी भी हुई, कुछ आश्चर्य भी; पूछा—तुम कौन हो?

उसी छेद से उत्तर मिला—मैं हूँ तूरया, सरदार की लड़की।

मैंने पूछा—क्या तुमको यह गाना पसन्द है?

तूरया ने उत्तर दिया—हाँ, क़ैदी गाओ, मैं फिर सुनना चाहती हूँ।

मैं हर्ष से गाने लगा। गीत समाप्त होने पर तूरया ने कहा—तुम रोज यही गीत मुझे सुनाया करो। इसके बदले में मैं तुमको और रोटियाँ और पानी दूँगी।

तूरया चली गई। इसके बाद मैं सदा रात के समय वही गीत गाता, और तूरया सदा दीवार के पास आकर सुनती।

मेरे मनोरंजन का एक मार्ग और निकल आया।

धीरे-धीरे एक मास बीत गया; पर किसी ने अभी तक मेरे छुड़ाने के लिए रुपया न भेजा। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते, मैं अपने जीवन से निराश होता जाता।

ठीक एक महीने बाद सरदार ने आकर कहा—"कैदी अगर कल तक रुपया न आवेगा, तो तुम मार डाले जाओगे। मैं अब रोटियाँ नहीं खिला सकता।

मुझे जीवन की कुछ आशा न रही। उस दिन न मुझसे खाया गया और न कुछ पिया ही गया। रात हुई, फिर रोटियाँ फेंक दी गईं; लेकिन खाने की इच्छा नहीं हुई।

निश्चित समय पर तूरया ने आकर कहा—कैदी, गाना गाओ।

उस दिन मुझे कुछ अच्छा न लगता था। मैं चुप रहा।

तूरया ने फिर कहा—कैदी, क्या सो गया।

मैंने बड़े ही मलिन स्वर में कहा—नहीं, आज से सोकर क्या करूँ, कल ऐसा सोऊँगा कि फिर जागना न पड़ेगा।

तूरया ने प्रश्न किया—क्यों, क्या सरकार रुपया न भेजेगी?

मैंने उत्तर दिया—भेजेगी तो, लेकिन कल तो मैं मार डाला जाऊँगा, मेरे मरने के बाद रुपया भी आया, तो मेरे किस काम का!

तूरया ने सान्त्वना-पूर्ण स्वर में कहा—अच्छा तुम गाओ, मैं कल तुम्हें मरने न दूँगी।

मैंने गाना शुरू किया, जाते समय तूरया ने पूछा—कैदी तुम कटघरे में रहना पसन्द करते हो?

मैंने सहर्ष उत्तर दिया—हाँ, किसी तरह इस नरक से तो छुटकारा मिले।

तूरया ने कहा—अच्छा, कल मैं अब्बा से कहूँगी।

दूसरे ही दिन मुझे उस अन्धकूप से बाहर निकाला गया। मेरे दोनों पैर दो मोटी शहतीरों के छेदों में बन्द कर दिये गये। और वह काठ की कीलों से प्राकृतिक गट्ठों में कस दिये गये।

सरदार ने मेरे पास आकर कहा—कैदी, पन्द्रह दिन की अवधि और दी जाती है, इसके बाद तुम्हारी गर्दन तन से अलग कर दी जायगी। आज दूसरा खत अपने घर को लिखो। अगर ईद तक रुपया न आया तो तुम्हीं को हलाल किया जायगा।

मैंने दूसरा पत्र लिखकर दे दिया।

सरदार के जाने के बाद तूरया आई। यह वही रमणी थी जो अभी गई है। यही उस सरदार की लड़की थी। यही मेरा गाना सुनती थी और इसी ने सिफारिश करके मेरी जान बचाई थी।

तूरया आकर मुझे देखने लगी। मैं भी उसकी ओर देखने लगा।

तूरया ने पूछा—कैदी, घर में तुम्हारे कौन-कौन हैं?

मैंने बड़े ही कातर-स्वर में कहा—दो छोटे-छोटे बालक, और कोई नहीं ? मुझे मालूम था कि अफ्रीदी बच्चों को बहुत प्यार करते हैं।

तूरया ने पूछा—उनकी माँ नहीं है ?

मैंने केवल दया उपजाने के लिए कहा—नहीं, उनकी माँ मर गई है। वे अकेले हैं। मालूम नहीं जीते हैं या मर गए; क्योंकि मेरे सिवाय उनकी देख-रेख करनेवाला और कोई न था।

कहते-कहते मेरी आँखों में आँसू भर आए। तूरया की भी आँखें सूखी न रहीं। तूरया ने अपना आवेग सँभालते हुए कहा—तो तुम्हारे कोई नहीं है, बच्चे अकेले हैं। वे बहुत रोते होंगे।

मैंने मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए कहा—हाँ, रोते जरूर होंगे। कौन जानता है, शायद मर भी गये हों ?

तूरया ने बात काटकर कहा—नहीं, अभी मरे न होंगे। अच्छा तुम रहते कहाँ हो ? मैं जाकर पता लगा आऊँगी।

मैंने अपने घर का पता बता दिया। उसने कहा—उस जगह मैं तो कई बार हो आई हूँ। बाजार से सौदा लेने मैं अक्सर जाती हूँ, अब जब जाऊँगी, तो तुम्हारे बच्चों की भी खबर ले आऊँगी।

मैंने सशंकित हृदय से पूछा—कब जाओगी ?

उसने कुछ सोचकर कहा—उस जुमेरात को जाऊँगी ? अच्छा, तुम वही गीत गाओ।

मैंने आज बड़ी उमंग और उत्साह से गाना शुरू किया। मैंने आज देखा कि उसका असर तूरया पर कैसा पड़ता है ? उसका शरीर काँपने लगा, आँखें डबडबा आई, गाल पीले पड़ गये और वह काँपती हुई बैठ गयी। उसकी दशा देखकर मैंने दूने उत्साह से गाना शुरू किया और अन्त में कहा—तूरया, अगर मैं मारा जाऊँ, तो मेरे बच्चों को मेरे मरने की खबर दे देना।

मेरी बात का पूरा असर पड़ा। तूरया ने भर्राए हुए स्वर में कहा—कैदी, तुम मरोगे नहीं। मैं तुम्हारे बच्चों के लिए तुम्हें छोड़ दूँगी।

मैंने निराश होकर कहा—तूरया, तुम्हारे छोड़ देने से भी मैं बच नहीं सकता। इस जंगल में मैं भटक-भटककर मर जाऊँगा, और फिर तो तुम पर भी मुसीबत आ सकती है। अपनी जान के लिये तुमको मुसीवत में न डालूँगा।

तूरया ने कहा—मेरे लिए तुम चिन्ता न करो। मेरे ऊपर कोई शक न करेगा। मैं सरदार की लड़की हूँ, जो कहूँगी वही सब मान लेंगे; लेकिन क्या तुम जाकर रुपया भेज दोगे ?

मैंने प्रसन्न होकर कहा—हाँ, तूरया, मैं रुपया भेज दूँगा।

तूरया ने जाते हुए कहा—तो मैं भी तुम्हें छुटकारा दिला दूँगी।

इस घटना के बाद तूरया सदैव मेरे बच्चों के सम्बन्ध में बातें करती। असद खाँ, सचमुच इन अफ्रीदियों को बच्चे बहुत प्यारे होते हैं। विधाता ने यदि उन्हें बर्बर हिंसक पशु बनाया है, तो मनुष्योचित प्रकृति से वंचित भी नहीं रक्खा है। आखिर जुमेरात आई और अभी तक सरदार वापस न आया। न कोई उस गिरोह का आदमी ही वापस आया। उस दिन संध्या-समय तूरया ने आकर कहा—कैदी, अब मैं नहीं जा सकती; क्योंकि मेरा पिता अभी तक नहीं आया। यदि कल भी न आया, तो मैं तुम्हें रात को छोड़ दूँगी। तुम अपने बच्चों के पास जाना; लेकिन देखो, रुपया भेजना न भूलना। मैं तुम पर विश्वास करती हूँ।

मैंने उस दिन बड़े उत्साह से गाना गाया। आधी रात तक तूरया सुनती रही, फिर सोने चली गई। मैं भी ईश्वर से मनाता रहा कि कल और सरदार न आए। काठ में बँधे-बँधे मेरा पैर बिलकुल निकम्मा हो गया था। तमाम शरीर दुख रहा था। इससे तो मैं काल-कोठरी में ही अच्छा था; क्योंकि वहाँ तो हाथ-पैर हिला-डुला सकता था।

दूसरे दिन भी गिरोह वापस न आया। उस दिन तूरया बहुत चिन्तित थी। शाम को आकर तूरया ने मेरे पैर खोलकर कहा—कैदी, अब तुम जाओ, चलो, मैं तुम्हें थोड़ी दूर पहुँचा दूँ।

थोड़ी देर तक मैं अवश लेटा रहा। धीरे-धीरे मेरे पैर ठीक हुए और ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ मैं तूरया के साथ चल दिया।

तूरया को प्रसन्न करने के लिये मैं रास्ते-भर गीत गाता आया। तूरया बार-बार सुनती और बार-बार रोती। आधी रात के करीब मैं तालाब के पास पहुँचा। वहाँ पहुँचकर तूरया ने कहा—सीधे चले जाओ, तुम पेशावर पहुँच जाओगे। देखो, होशियारी से जाना, नहीं तो कोई तुम्हें अपनी गोली का शिकार बना डालेगा। यह लो, तुम्हारे कपड़े हैं; लेकिन रुपया जरूर भेज देना। तुम्हारी जमानत मैं लूंगी। अगर रुपया न आया, तो मेरे भी प्राण जायँगे, और तुम्हारे भी। अगर रुपया आ जायगा, तो कोई भी अफ्रीदी तुम पर हाथ न उठाएगा, चाहे एक बार तुम किसी को मार भी डालो। जाओ, ईश्वर तुम्हारी रक्षा करें और तुम को अपने बच्चों से मिलावें।

तूरया फिर ठहरी नहीं। गुनगुनाती हुई लौट पड़ी। रात दो पहर बीत चुकी थी। चारों ओर भयानक निस्तब्धता छाई हुई थी, केवल वायु सायँ-सायँ करती हुई बह रही थी। आकाश के बीचोबीच चन्द्रमा अपनी सोलहो कला से चमक रहा था। तालाब के तट पर रुकना सुरक्षित न था। मैं धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ा। बार-बार चारों ओर देखता जाता था। ईश्वर की कृपा से प्रातःकाल होते-होते मैं पेशावर की सरहद पर पहुँच गया।

सरहद पर सिपाहियों का पहरा था। मुझे देखते ही तमाम फौजभर में हलचल मच गई। सभी लोग मुझे मरा समझे हुए थे। जीता-जागता लौटा हुआ देखकर सभी प्रसन्न हो गए।

कर्नल हैमिलटन साहब भी समाचार पाकर उसी समय मिलने आए और सब हाल पूछकर कहा—मेजर साहब, मैं आपको मरा हुआ समझता था। मेरे पास तुम्हारे दो पत्र आए थे; लेकिन मुझे स्वप्न में भी विश्वास न हुआ था कि वे तुम्हारे लिखे हुए हैं। मैं तो उन्हें जाली समझता था। ईश्वर को धन्यवाद है कि तुम जीते बचकर आ गए।

मैंने कर्नल साहब को धन्यवाद दिया और मन-ही-मन कहा—काले आदमी का लिखा हुआ जाली था, और कहीं अगर गोरा आदमी लिखता,

तो दो की कौन कहे, चार हजार रुपया पहुँच जाता। कितने ही गाँव जला दिए जाते और न-जाने क्या-क्या न होता।

मैं चुपचाप अपने घर आया। बाल-बच्चों को पाकर आत्मा सन्तुष्ट हुई। उसी दिन एक विश्वासी अनुचर के द्वारा दो हजार रुपये तूरया के पास भेज दिए।

(५)

सरदार ने एक ठंढी साँस लेकर कहा—असद खाँ, अभी मेरी कहानी समाप्त नहीं हुई। अभी तो दुःखान्त भाग अवशेष ही है। यहाँ आकर मैं धीरे-धीरे अपनी सब मुसीबतें भूल गया; लेकिन तूरया को न भूल सका। तूरया की कृपा से ही मैं अपनी स्त्री और बच्चों से मिल पाया था, यही नहीं जीवन भी पाया था, फिर भला मैं उसे कैसे भूल जाता।

महीनों और सालों बीत गए। मैंने न तूरया को और न उसके बाप को ही देखा। तूरया ने आने के लिये कहा भी; लेकिन वह आई नहीं। वहाँ से आकर मैंने अपनी स्त्री को उसके मायके भेज दिया था, क्योंकि ख्याल था कि शायद तूरया आवे, तो फिर मैं झूठा बनूँगा; लेकिन जब तीन साल बीत गए और तूरया न आई, तो मैं निश्चिन्त हो गया और स्त्री को मायके से बुला लिया। हम लोग सुख पूर्वक दिन काट रहे थे कि अचानक फिर दुर्दशा की घड़ी आई।

एक दिन सन्ध्या के समय इसी बरामदे में बैठा हुआ अपनी स्त्री से बातें कर रहा था कि किसी ने बाहर का दरवाजा खटखटाया। नौकर ने दरवाजा खोल दिया और बेधड़क जीना चढ़ती हुई एक काबुली औरत ऊपर चली आई। उसने बरामदे में आकर विशुद्ध पश्तो भाषा में पूछा—सरदार साहब कहाँ हैं?

मैंने कमरे के भीतर आकर पूछा—तुम कौन हो, क्या चाहती हो?

उस स्त्री ने कुछ मूँगे निकालते हुए कहा—यह मूँगे मैं बेचने के लिये आई हूँ, खरीदिएगा?

यह कहकर उसने बड़े-बड़े मूँगे निकालकर मेज पर रख दिए।

मेरी स्त्री भी मेरे साथ ही कमरे के भीतर आई थी वह मूँगे उठा-कर देखने लगी। उस काबुली स्त्री ने पूछा—सरदार, साहब, यह कौन है आपकी !

मैंने उत्तर दिया—मेरी स्त्री है, और कौन है।

काबुली स्त्री ने कहा—आपकी स्त्री तो मर चुकी थी, क्या आपने दूसरा विवाह किया है?

मैंने रोषपूर्ण स्वर में कहा—चुप बेवकूफ कहीं की, तू मर गई होगी।

मेरी स्त्री पश्तो नहीं जानती थी, वह तन्मय होकर मूँगे देख रही थी।

किन्तु मेरी बात सुनकर न-मालूम क्यों काबुली औरत की आँखें चमकने लगीं। उसने बड़े ही तीव्र स्वर में कहा—हाँ, बेवकूफ न होती तो तुम्हें छोड़ कैसे देती? दोजखी पिल्ले, मुझसे झूठ बोला था। ले, अगर तेरी स्त्री तब न मरी थी, तो अब मर गई!

कहते-कहते शेरनी की तरह लपककर उसने एक तेज छुरा मेरी स्त्री की छाती में घुसेड़ दिया। मैं उसे रोकने के लिये आगे बढ़ा; लेकिन वह कूदकर आँगन में चली गई और बोली—अब पहचान ले, मैं तूरया हूँ। मैं आज घर में रहने के लिये आई थी। मैं तुझसे विवाह करती और तेरी होकर रहती। तेरे लिये मैंने बाप, घर, सब कुछ छोड़ दिया था; लेकिन तू झूठा है, मक्कार है। तू अब अपनी बीबी के नाम को रो, मैं आज से तेरे नाम को रोऊँगी। यह कहकर वह तेजी से नीचे चली गई।

अब मैं अपनी स्त्री के पास पहुँचा। छुरा ठीक हृदय में लगा था। एक ही वार ने उसका काम तमाम कर दिया था। डाक्टर बुलवाया, लेकिन वह मर चुकी थी।

कहते-कहते सरदार साहब की आँखों में आँसू भर आए। उन्होंने अपनी भींगी हुई आँखों को पोंछकर कहा—असद खाँ, मुझे स्वप्न में भी अनुमान न था कि तूरया इतनी पिशाच-हृदय हो सकेगी। अगर मैं पहले उसे पहचान लेता, तो यह आफत न आने पाती; लेकिन कमरे में अन्धकार था, और इसके अतिरिक्त मैं उसकी ओर से निराश हो चुका था।

तब से फिर कभी तूरया नहीं आई। अब जब कभी मुझे देखती है, तो मेरी ओर देखकर नागिन की भाँति फुफकारती हुई चली जाती है। इसे देखकर मेरा हृदय काँपने लगता है और मैं अवश हो जाता हूँ। कई बार कोशिश की, मैं इसे पकड़वा दूँ; लेकिन उसे देखकर मैं बिलकुल निकम्मा हो जाता हूँ। हाथ-पैर बेकाबू हो जाते हैं, मेरी सारी वीरता हवा हो जाती है।

यही नहीं, तूरया का मोह अब भी मेरे ऊपर है। मेरे बच्चों को हमेशा वह कोई-न-कोई बहुमूल्य चीज दे जाती है। जिस दिन बच्चे उसे नहीं मिलते, दरवाजे के भीतर फेंक जाती है। उनमें एक कागज का टुकड़ा बँधा होता है, जिसमें लिखा रहता है—सरदार साहब के बच्चों के लिये।

मैं अभी तक इस स्त्री को नहीं समझ पाया। जितना ही समझने का यत्न करता हूँ, उतनी ही यह कठिन होती जाती है। नहीं समझ में आता है कि यह मानवी है या राक्षसी!

इसी समय सरदार साहब के लड़के ने आकर कहा—देखिए, वही औरत यह सोने का ताबीज दे गई है।

सरदार साहब ने मेरी ओर देखकर कहा—देखो, असद खाँ, मैं तुमसे कहता न था। देखो, आज भी यह ताबीज दे गई। न मालूम, कितने ही ताबीज और कितनी ही दूसरी चीजें, अर्जुन और निहाल को दे गई होगी। कहता हूँ कि तूरया बड़ी ही विचित्र स्त्री है।

(६)

सरदार साहब से बिदा होकर मैं घर चला। चौरस्ते से बुड्ढे की लाश हटा दी गई थी; पर वहाँ पहुँचकर मेरे रोएँ खड़े हो गए। मैं आप-ही-आप एक मिनट वहाँ खड़ा हो गया। सहसा पीछे देखा। छाया की भाँति एक स्त्री मेरे पीछे-पीछे चली आ रही थी। मुझे खड़ा देखकर वह स्त्री भी रुक गई और एक दूकान में कुछ खरीदने लगी।

मैंने अपने हृदय से प्रश्न किया—क्या वह तूरया है?

हृदय ने उत्तर दिया—हाँ, शायद वही है।

तूरया मेरा पीछा क्यों कर रही है? यही सोचता हुआ मैं घर पहुँचा और खाना खाकर लेटा; पर आज की घटनाओं का मुझ पर ऐसा असर पड़ा था कि किसी तरह भी नींद न आती थी। जितना ही मैं सोने का यत्न करता, उतनी ही नींद मुझसे दूर भागती।

फौजी घड़ियाल ने बारह बजाए, दो बजाए, लेकिन मुझे नींद न थी। मैं करवटें बदलता हुआ सोने का उपक्रम कर रहा था। इसी उधेड़-बुन में कब नींद ने मुझे धर दबाया, मुझे जरा भी याद नहीं।

यद्यपि मैं सो रहा था, लेकिन मेरा ज्ञान जाग रहा था। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कोई स्त्री, जिसकी आकृति तूरया से बहुत कुछ मिलती थी; लेकिन उससे कहीं अधिक भयावनी थी, दीवार फोड़कर भीतर घुस आई है। उसके हाथ में एक तेज छुरा है, जो लालटेन के प्रकाश में चमक रहा है। वह दबे पाँव, सतर्क नेत्रों से ताकती हुई धीरे-धीरे मेरी ओर बढ़ रही है। मैं उसे देखकर उठना चाहता हूँ; लेकिन हाथ-पैर मेरे काबू में नहीं है। मानो उनमें जान है ही नहीं। वह स्त्री मेरे पास पहुँच गई। थोड़ी देर तक मेरी ओर देखा, और फिर अपने छुरेवाले हाथ को ऊपर उठाया। मैं चिल्लाने का उपक्रम करने लगा; लेकिन मेरी घिग्घी बँध गई। शब्द कंठ से फूटा ही नहीं। उसने मेरे दोनों हाथों को अपने घुटने के नीचे दबाया और मेरी छाती पर सवार हो गई। मैं छटपटाने लगा और मेरी आँखें खुल गईं। सचमुच एक काबुली औरत मेरी छाती पर सवार थी। उसके हाथ में छुरा था और वह छुरा मारना ही चाहती थी।

मैंने कहा—कौन तूरया?

यह वास्तव में तूरया ही थी। उसने मुझे बलपूर्वक दबाते हुए कहा—हाँ, मैं तूरया ही हूँ। आज तूने मेरे बाप का खून किया है, उसके बदले में तेरी जान जायगी।

यह कहकर उसने अपना छुरा ऊपर उठाया। उस समय मेरे सामने जीवन और मरण का प्रश्न था। जीवन की लालसा ने मुझमें साहस का संचार किया। मैं मरने के लिये तैयार न था, मेरे अरमान और उमंगें अब

भी बाकी थीं। मैंने बलपूर्वक अपना दाहिना हाथ छुड़ाने का प्रयत्न किया और एक ही झटके में मेरा हाथ छूट गया। मैंने अपनी पूरी ताकत से तूरया का छुरावाला हाथ पकड़ लिया। न-मालूम क्यों तूरया ने कुछ भी विरोध न किया। वह मेरे हाथ को देखती हुई मेरी छाती से उतर आई। उसकी आँखें पथराई हुई थीं, और वह एकटक मेरे हाथ की ओर देख रही थी।

मैंने हँस कर कहा—तूरया, अब तो पासा पलट गया। अब तेरे मरने की पारी है। तेरे बाप को मारा और अब तुझे भी मारता हूँ।

तूरया अब भी एकटक मेरे हाथ की ओर देख रही थी। उसने कुछ भी उत्तर न दिया।

मैंने उसे झँझोड़ते हुए—बोलती क्यों नहीं? अब तो तेरी जान मेरी मुट्ठी में है।

तूरया का मोह टूटा। उसने बड़े गम्भीर और दृढ़ कंठ से कहा—तू मेरा भाई है। तूने अपने बाप को मारा है आज!

तूरया की बात सुनकर मुझे उस अवसर पर भी हँसी आ गई।

मैंने हँसते हुए कहा—अफ्रीदी मक्कार भी होते हैं, यह आज ही मुझे मालूम हुआ।

तूरया ने शान्त स्वर में कहा—तू मेरा खोया हुआ बड़ा भाई नाजिर है। यह जो तेरे हाथ में निशान है, वही बतला रहा है कि तू मेरा खोया हुआ भाई है।

बचपन से मेरे हाथ में एक साँप गुदा हुआ था। और यही मेरी पहिचान फौजी रजिस्टर में भी लिखी गई थी।

मैंने हँसकर कहा—तूरया तू मुझे भुलावा नहीं दे सकती। मैं अब तुझे किसी तरह न छोड़ूँगा।

तूरया ने अपने हाथ से छुरा फेंककर कहा—सचमुच तू मेरा भाई है। अगर तुझे विश्वास नहीं होता, तो देख मेरे दाहिने हाथ में भी ऐसा ही साँप गुदा हुआ है।

मैंने तूरया के हाथ पर दृष्टि डाली, तो वहाँ भी बिलकुल मेरा ही जैसा साँप गुदा हुआ था।

मैंने कुछ सोचते हुए कहा—तूरया, मैं तेरा विश्वास नहीं कर सकता, यह इत्तफाक की बात है।

तूरया ने कहा—मेरा हाथ छोड़ दे। मैं तुझपर वार न करूँगी। अफ्रीदी झूठ नहीं बोलते।

मैंने उसका हाथ छोड़ दिया, वह पृथ्वी पर बैठ गई, और मेरी ओर देखने लगी। थोड़ी देर बाद उसने कहा—अच्छा तुझे अपने माँ-बाप का पता है।

मैंने सिर हिलाकर उत्तर दिया—नहीं, मैं सरकारी अनाथालय में पाला गया हूँ।

मेरी बात सुनकर तूरया उठ खड़ी हुई, और बोली—तब तू मेरा खोया हुआ बड़ा भाई नाजिर ही है। मेरे पैदा होने के एक साल पहले तू खोया था। मेरे माँ-बाप सब सरकारी फौज पर छापा डालने के लिये आए थे, और तू भी साथ था। मेरी माँ लड़ने में बड़ी होशियार थीं। तू उनकी पीठ से बँधा हुआ था और वे लड़ रही थीं। इसी समय एक गोली उनके पैर में लगी और वे गिरकर बेहोश हो गईं। बस, कोई तुझे खोल ले गया। मेरी माँ को मेरा बाप अपने कन्धे पर उठा लाया; लेकिन तुझे न खोज सका। बहुत तलाश किया; लेकिन कहीं भी तेरा पता न लगा। अम्माँ अकसर तेरी चर्चा किया करती थीं। उनके हाथ में यही निशान था।

यह कहकर उसने फिर वही हाथ मुझे दिखलाया। मैं उसका और अपना साँप मिलाने लगा। वास्तव में दोनों साँप हूबहू-एक-से थे, बालभर भी अन्तर न था। मैं हताश-सा होकर चारपाई पर गिर पड़ा।

तूरया मेरे पास बैठकर सस्नेह मेरे माथे का पसीना पोंछने लगी। उसने कहा—नाजिर, माँ कहती थीं कि तू मरा नहीं, जिन्दा है। एक दिन जरूर तू हम लोगों से मिलेगा।

तूरया की बात पर अब मुझे विश्वास हो चला था। न-जाने कौन

मेरे हृदय में बैठा हुआ कह रहा था, कि तूरया जो कहती है, ठीक है। मैंने एक लम्बी साँस लेकर कहा—क्यों तूरया, मैंने जिसे आज मारा है, वह हम लोगों का बाप था ?

तूरया के मुँह पर शोक का एक छोटा-सा बादल घिर आया। उसने बड़े दुःखपूर्ण स्वर में कहा—हाँ नाजिर, वह अभागा हमारा बाप ही था। कौन जानता था कि वह अपने प्यारे लड़के के हाथों हलाल होगा।

फिर सान्त्वना-पूर्ण स्वर में बोली—लेकिन नाजिर, तूने तो अनजान में यह काम किया है। बाप के मरने से बिलकुल अकेली हो गई थी; लेकिन अब तुझे पाकर मैं बाप के रंज को भूल जाऊँगी। नाजिर, तू रंज न कर। तुझे क्या मालूम था कि कौन तेरा बाप है और कौन तेरी माँ है! देख, मैं ही तुझे मारने के लिये आई थी, तुझे मार डालती; लेकिन खुदा की मेहरबानी से मैंने अपना खानदानी निशान देख लिया। खुदा की ऐसी ही मरजी थी।

तूरया से मालूम हुआ कि मेरे बाप का नाम हैदर खाँ था, जो अफ्रीदियों के एक गिरोह का सरदार था। मैंने सरदार हिम्मतसिंह के सम्बन्ध में भी तूरया से बातें कीं, तो मालूम हुआ कि तूरया सरदार साहब को प्यार करने लगी थी। वह हमारे बाप से लड़-भिड़कर सरदार साहब से निकाह करने आई थी; लेकिन वहाँ इनकी स्त्री को पाकर वह ईर्ष्या और क्रोध से पागल हो गई, और उसने उनकी स्त्री की हत्या कर डाली। काबुली औरत के भेष में जाकर वह कुछ मजाक करना चाहती थी; लेकिन घटना-चक्र उसे दूसरी ही ओर ले गया।

मैंने सरदार साहब की दशा का वर्णन किया। सुनकर वह कुछ सोचती रही और फिर कहा—नहीं, वह आदमी झूठा और दगाबाज है। मैं उससे निकाह नहीं करूँगी; लेकिन तेरी खातिर अब सब भूल जाऊँगी। कल उनके बच्चों को ले आना, मैं प्यार करूँगी।

प्रातःकाल तूरया को देखकर मेरा नौकर आश्चर्य करने लगा। मैंने उससे कहा—यह मेरी सगी बहन है।

नौकर को मेरी बात पर विश्वास न हुआ। तब मैंने विस्तारपूर्वक सब हाल कहा और उसे उसी समय अपने बाप की लाश की खबर लेने के लिये भेजा। नौकर ने आकर कहा—लाश अभी तक थाने पर रक्खी हुई है।

मैंने बड़े साहब के नाम एक पत्र लिखकर सब हाल बता दिया, और लाश पाने के लिये दरखास्त की। उसी समय साहब के यहाँ से स्वीकृति आ गई।

एक पत्र लिखकर मेजर साहब को भी बुलवाया।

मेजर साहब ने आकर कहा—क्या बात है असद? इतनी जल्दी आने के लिये क्यों लिखा?

मैंने हँसते हुए कहा—मेजर साहब, मेरा नाम असद नहीं रहा, मेरा असली नाम है नाजिर।

मेजर साहब ने साश्चर्य मेरी ओर देखते हुए कहा—रात-भर में तुम पागल तो नहीं हो गए?

मैंने हँसते हुए कहा—नहीं, सरदार साहब, अभी और सुनिए। तूरया मेरी सगी बहन है, और जिसे कल मैंने मारा, वह मेरा बाप था।

सरदार साहब मेरी बात सुनकर मानो आकाश से गिर पड़े। उनकी आँखें कपाल पर चढ़ गईं। उन्होंने कहा—क्यों असद, तुम मुझे भी पागल कर डालोगे?

मैंने सरदार साहब का हाथ पकड़कर कहा—आइए, तूरया के मुँह से ही सब हाल सुन लीजिए। तूरया मेरे यहाँ बैठी हुई आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

सरदार साहब मेरे पीछे-पीछे चले। तूरया उन्हें आते देखकर उठ खड़ी हुई और हँसती हुई बोली—कैदी, तुम वही गीत फिर गाओ। तूरया की बात सुनकर मैं और सरदार साहब भी हँसने लगे।

सरदार साहब को बिठाकर मैंने विस्तार-पूर्वक सब हाल कहा। कहानी सुनकर सरदार साहब ने मुझसे कहा—नाजिर, अब तुम्हें नाजिर ही कहूँगा, तूरया को मैं तुमसे माँगता हूँ। मैं इसके साथ विवाह करूँगा।

मैंने हँसकर कहा——लेकिन आप हिन्दू हैं, और हम लोग मुसलमान।

सरदार साहब ने हँसकर कहा——पलटनियों की कोई जाति-पाँति नहीं है।

तूरया ने उसी समय कहा——लेकिन सरदार साहब, मैं तुमसे विवाह नहीं करूँगी, हाँ अगर तुम अपने दोनों बच्चों को मेरे पास भेज दो, तो मैं उनकी माँ बन जाऊँगी।

सरदार साहब हँसते हुए विदा हुए।

उसी दिन शाम को हमने सरदार साहब, तूरया और दूसरे पलटनियों के साथ जाकर अपने बाप की लाश दफनाई।

सूरज डूब रहा था। धीरे-धीरे अँधेरा हो रहा था, और हम दोनों, तूरया और मैं, अपने बाप की कब्र पर फातिहा पढ़ रहे थे।

श्रीसुदर्शन

(जन्म-संवत् १९४२ वि०---)

कहानी-लेखक

आप पहले उर्दू में लिखा करते थे, हिन्दी में बाद को आए। प्रेमचन्द-जी की ही भाँति इन्होंने सामाजिक समस्याओं को अपनी कहानियों का लक्ष्य बनाया जिससे कहीं-कहीं इनकी सुधारक मनोवृत्ति इनकी कला की बाधक हो गई है। प्रेमचन्दजी की ही भाँति कहीं-कहीं इनकी कहानियों में व्यक्ति सजीव नहीं हो पाया, समाज-सुधार की भावना प्रमुख हो गई है। अंग्रेजी कथा-साहित्य का सुदर्शनजी ने अच्छा अध्ययन किया है, ऐसा जान पड़ता है। यहाँ उनकी 'कवि की स्त्री' नामक कहानी दी जाती है।

कवि की स्त्री

(१)

सत्यवान

छात्रावस्था में मैं और मणिराम साथ-ही-साथ पढ़े थे। उस समय हम एक दूसरे पर प्राण देते थे। बचपन के दिन थे जबतक एक दूसरे को देख न लेते, शान्ति न मिलती। उस समय हमें बुद्धि न थी। बाद में प्रेम का स्थान बैर ने ले लिया, दोनों एक दूसरे के लहू के प्यासे हो गये। तब हम शिक्षित हो चुके थे। एफ० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् हमारे रास्ते अलग-अलग हो गए। मणिराम मेडिकल-कालेज में भर्ती हो गया। मैंने साहित्य-संसार में पाँव रखा। मुझे रुपये-पैसे की परवा न थी, पूर्वजों की सम्पत्ति ने इस ओर से निश्चिन्त कर दिया था। दिन-रात कविता के रस में लवलीन रहता और कई-कई दिन घर से बाहर न निकलता। इन दिनों मेरे सिर पर यही धुन सवार रहती थी। एक-एक पद पर घंटों खर्च हो जाते थे। अपनी रचना को देखकर मैं गर्व से झूमने लग जाता था। कभी-कभी मुझे अपनी कविता में तुलसीदास की उपमा और सूरदास के रूपकों का स्वाद आता था। परन्तु जब मेरी कविताएँ पत्रों में निकलने लगीं तो मेरा कवित्व का मद उतरने लगा। मद उतर गया, परन्तु उसका प्रभाव न गया। यह प्रभाव प्रख्याति, कीर्ति और यश का प्रभाव था। थोड़े ही वर्षों में मेरा नाम हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध हो गया। मैं अब कुछ काम न करता था। केवल बड़े-बड़े लोगों को पार्टियाँ दिया करता था। अब इसके बिना मुझे चैन न मिलती थी। अब कविता में भी उतना मन न लगता था। पहले मेरा सारा समय इसीकी भेंट होता था, अब वह जी-बहलाने की चीज हो गई थी। परन्तु जब कभी कुछ लिखता तो रंग बाँध देता था। साधारण विषय को भी लेता तो उसमें जान डाल देता था।

उधर मणिराम चिकित्सा के ग्रन्थों के साथ सिर फोड़ता रहा। पाँच वर्ष बाद एसिस्टेंट सर्जरी की परीक्षा पास करके उसने अपनी दूकान खोल ली। परीक्षा का परिणाम निकलने के समय उसका नाम एक बार समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् फिर कभी उसका नाम पत्रों में नहीं छपा। इधर मेरी प्रशंसा में प्रतिदिन समाचार-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते थे। वह दूकान पर सारा दिन बैठा रोगियों की बाट देखता रहता था, परन्तु उसका नाम कौन जानता था? लोग उधर जाते हुए झिझकते थे। मैं उसकी ओर देखता तो घृणा से मुँह फेर लेता, जिस प्रकार मोटर में चढ़ा हुआ मनुष्य पैदल जानेवालों को घृणा से देखता है।

(२)

एक दिन एक पत्र आया। उसमें मेरी कवित्व-कला की बहुत ही प्रशंसा की गई थी और मुझे देश और जाति के लिये सम्मान और गौरव का हेतु बताया गया था। मेरे पास ऐसे पत्र प्रायः आते रहते थे, यह कोई नई बात न थी। मैं कभी-कभी तो ऐसे पत्रों को देखकर झुँझला उठता था। परन्तु यह पत्र एक स्त्री की ओर से था। हम पुरुषों की ओर से उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु किसी कोमलांगी के साथ यह व्यवहार करने को जी नहीं चाहता और यह पत्र किसी साधारण स्त्री की ओर से नहीं था। इसकी लेखिका देहरादून के प्रसिद्ध रईस ठाकुर हृदयनारायण की शिक्षित लड़की सावित्री थी जिसने इसी वर्ष बी० ए० की परीक्षा पास की थी। उसके सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में कई लेख निकले थे, परन्तु मैंने उन्हें पढ़ने की आवश्यकता न समझी थी। इस पत्र ने सब कुछ याद करा दिया। मैंने उसी समय लेखनी पकड़ी, और जवाब लिखने बैठ गया। परन्तु हाथ जवाब दे रहे थे। ऐसी लगन से कोई विद्यार्थी अपनी परीक्षा के पर्चे भी न लिखता होगा। एक-एक शब्द पर रुकता था, और नये-नये शब्द ढूँढ़कर नये-नये विचार लेखनी के अर्पण करता जाता था। मैंने सावित्री और उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा में कोष के सम्पूर्ण सुन्दर शब्द समाप्त कर दिये। अपनी अयोग्यता

को भी स्वीकार किया—आप मेरी प्रशंसा करती हैं, यह आपका बड़प्पन है, अन्यथा मेरी कविता में धरा ही क्या है? न कल्पना में सौन्दर्य है, न शब्दों में मिठास। रस कविता का प्रधान अंग है, वह मेरी कविता से कोसों दूर है। हम कवि बन बैठते हैं, परन्तु कवि बनना आसान नहीं। इसके लिए देखनेवाली आँख और सुननेवाले कान दोनों की आवश्यकता है, इत्यादि। कहने की आवश्यकता न होगी कि अपनी प्रशंसा करने का यह एक बढ़िया ढंग है।

कुछ दिन के पश्चात् इस पत्र का उत्तर आया—यह जो कुछ आपने लिखा है, आप जैसे महापुरुषों के योग्य ही है, परन्तु मैं तो आपको टेनिसन और वर्डस्वर्थ से बढ़कर समझती हूँ। आप कहते हैं कि आपकी कविता रस-हीन है, होगी। परन्तु मुझ पर तो वह जादू कर देती है। घंटों प्रेम-सागर में डुबकियाँ लगाती हूँ। खानापीना भूल जाता है। जी चाहता है, आपकी लेखनी चूम लूँ।

यह पत्र शराब की दूसरी बोतल थी। और अन्तिम वाक्य ने तो हृदय में आग लगा दी। मैंने फिर उत्तर दिया, और पत्र में हृदय खोल कर रख दिया। कवि अपने चाहनेवालों को आकाश पर चढ़ा देता है। मैंने भी सावित्री की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर दिया। लिखा—कारलाइल का कथन है कि कवि केवल वही नहीं जो कविता लिख सकता है, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति जो कविता समझ सकता है और उसके मर्म तक पहुँच सकता है, कवि है। इस रूप में तुम भी कवि हो। मैंने अच्छों-अच्छों को देखा है, कविता के महत्व को नहीं समझ सकते। परन्तु तुम तो बाल की खाल निकालती हो। तुम्हारी योग्यता पर मुझे आश्चर्य होता है। धन्य है, भारतभूमि! जिसमें तुम जैसी देवियाँ खेलती हैं।

मैंने सैकड़ों उपन्यास पढ़े थे, अच्छी से अच्छी कविताएँ देखी थीं, परन्तु जो रस, जो स्वाद सावित्री के पत्रों में था वह किसी में न था। यही जी चाहता था कि उन्हीं को पढ़ता रहूँ।

(३)

सावित्री

निस्संदेह वे मुझे चाहते हैं, अन्यथा इस प्रकार तुरन्त ही उत्तर-प्रत्युत्तर न देते। आज पत्र लिखती हूँ, तीसरे दिन उत्तर आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरे पत्र की राह देख रहे थे। उनके पत्र उनकी कविता से अधिक सरस हैं, पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। और कभी-कभी तो ऐसी चुटकी लेते हैं कि मन अधीर हो उठता है। मैंने चित्र माँग भेजा था। उत्तर देते हैं—तुमने लिखा है कि चित्र भेज रहा हूँ परन्तु मुझे तो आज तक नहीं मिला। रजिस्ट्री की रसीद हो तो भेज दो, डाकखाने पर नालिश कर दूँ। हठात् मुझे अपना चित्र भेजना पड़ा। उत्तर में उनका चित्र आ गया। मेरा विचार सच्चा निकला। कैसे सुन्दर हैं ! मुख पर राजकुमारों जैसा लावण्य झलकता है। मेरे हृदय को पहले ही चैन न थी, चित्र ने रही-सही भी छीन ली। रात को नींद नहीं आती। उनकी अन्तिम कविता ने उनका हृदय मुझ पर खोल दिया है। 'प्रीतम से' कैसा प्यारा शीर्षक है ! एक-एक अक्षर से प्रेम टपकता है। इससे पहली कविता 'पाती निहार कर' भी मुझ पर ही लिखी गई थी। लिखती हूँ, तुम मुझे बदनाम करके छोड़ोगे। यह तो कहो, तुम मेरे पीछे-पीछे पल्ले झाड़कर क्यों पड़ गये हो? एक और कविता 'एकान्त में' प्रकाशित हुई है। इससे जान पड़ता है, अभी तक कुँवारे हैं। तो मेरी...परन्तु वे इतना परिश्रम क्यों करते हैं? बहुत पढ़ना-लिखना मनुष्य को बाँस की तरह खोखला कर देता है। लिखती हूँ, कविता लिखना बन्द कर दो और अपने शरीर की ओर ध्यान दो, मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। इसके बाद मैंने उनके सम्बन्ध में सब कुछ मालूम कर लिया। वे हमारी ही बिरादरी के हैं और कुँवारे हैं।

मैंने पत्र लिखा। पहले पत्रों और इस पत्र में बहुत भेद था। इसमें कोई 'संकोच' कोई 'बनावट' न थी—"तुम्हारे पत्रों से सन्तोष नहीं होता। जी चाहता है, तुम्हारे दर्शन हों तो गिरकर तुम्हारे पैरों को चूम लूँ।

अब अधिक न तरसाओ। प्रतिक्षण सामने देखना चाहती हूँ। प्रायः सोते-सोते चौंक पड़ती हूँ, तुम्हारे खाने-पीने का क्या प्रबन्ध होता होगा ? रात को अधिक समय तक जागते तो नहीं रहते, स्वास्थ्य बिगड़ जायगा। इसका पूरा-पूरा ध्यान रक्खो। मुझे पत्र लिखना न भूलो। जी डर जाता है। मुझे अपने चरणों की दासी समझो।"

चौथे दिन उत्तर आया तो मैं जमीन से उछल पड़ी। वे मेरे साथ विवाह करने को सहमत ही नहीं, प्रत्युत अधीर हो रहे थे। मैंने आँखें बन्द कर लीं, और आनेवाले काल्पनिक सहवास का चिन्तन करके आनन्द के झूले में झूलने लगी। इतने में किसी के पैरों की चाप सुनाई दी, मेरी आँखें खुल गईं। देखा, छोटा भाई प्रभाशंकर चित्रों का एक बंडल लिये खड़ा है। मैंने आश्चर्य से पूछा, "प्रभा! यह क्या है?"

"बाबूजी कहते हैं, ये चित्र देखकर इनमें-से एक छाँट दो। प्रत्येक चित्र के साथ-साथ एक पत्र है, उसे भी पढ़ जाना।"

यह कहते-कहते प्रभा ने वह बंडल मेरे हाथ में दे दिया, और आप तेजी से बाहर निकल गया।

मैंने बंडल खोला। इसमें उन पुरुषों के फोटो थे जो मेरे साथ विवाह करना चाहते थे। मैंने मुस्कराते-मुस्कराते सब पर एक उचटती हुई दृष्टि डाली। कोई बैरिस्टर था, कोई इंजीनियर, कोई डाक्टर था, कोई ठेकेदार। परन्तु मुझे कोई भी पसन्द न आया। मेरे अन्तःकरण में एक ही मूर्ति के लिये स्थान था और वहाँ पहले ही से एक मूर्ति विराजमान थी, मैंने फुर्ती से उठ अपना सन्दूक खोला, और उसमें-से उनका फोटो निकाल कर उस पर (passed) 'पास्ड' शब्द लिखकर बाबूजी के पास भेज दिया। वे दंग रह गये। उन्हें यह आशा न थी। वे समझते थे, मैं किसी लखपती का बेटा पसन्द करूँगी, परन्तु मैंने एक कवि को चुना। वे निर्धन न थे, पर इतने धनाढच भी न थे। मेरे चाहनेवालों में कई पुरुष ऐसे थे, जो उनको खरीद सकने की सामर्थ्य रखते थे। परन्तु प्रेम को अन्धा कहा गया है, उसे देखना किसने सिखाया है ?

बाबूजी मेरी इच्छा के अनुसार सहमत हो गये। उन्होंने मुझे बड़े लाड़-प्यार से पाला था, मेरी शिक्षा पर सहस्रों रुपये खर्च किये थे। इस विषय में भी उन्होंने मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी।

(४)

जिस बात का भय था, अन्त में वही हुआ। उन्हें बुखार आने लगा है। कुछ दिन हुए, उनके एक मित्र मिलने आये थे। वे कहते हैं कि डाक्टरों को तपेदिक का सन्देह है। यह बात सुनकर बाबूजी बड़े व्याकुल हुए। सदा उदास रहते हैं, जैसे कोई रोग लग गया हो। उनकी इच्छा है कि मैं अब इस विवाह का विचार छोड़ दूँ। जलती आग में कूदना बुद्धिमत्ता नहीं है। परन्तु मैं इसकी परवा नहीं करती। संसार की आँखों में हम कुँवारे हैं, पर जब मन मिल गये, प्रेम की डोरी बँध गई, तो शेष क्या रह गया? अब मैं उनकी हूँ, और कोई रोग, कोई नियम, कोई विचार मुझे उनसे अलग नहीं रख सकता। यहाँ तक कि मृत्यु को भी यह साहस नहीं। सावित्री ने सत्यवान को यमदूत के पंजे से छुड़ा लिया था, क्या मैं उन्हें व्याधि के मुख से न बचा सकूँगी? मैं भी सावित्री हूँ। उसी भारत की मिट्टी से मेरा जन्म हुआ है, मैं उसके कारनामे को आज फिर जिन्दा कर दिखाऊँगी।

सायंकाल हो गया था, बाबूजी अपने कमरे में बैठे थे। मुझे चिन्ता हुई। यह समय उनके क्लब जाने का था। सर्दी-गर्मी में बराबर जाते थे। यह उनका नियम था, जिसमें कभी नागा न होता था। मैं उनके पास जाकर बैठ गई, और धीरे से बोली—क्यों, "आज आप क्लब नहीं गये?"

बाबूजी ने कोई उत्तर न दिया।

"आप उदास दिखाई देते हैं।"

"बाबूजी ने कहा—तुम्हें इससे क्या?"

"आपका स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।"

"कोई परवा नहीं।"

"आप का खाना आधा भी नहीं रहा।"

"मैं यह सब कुछ जानता हूँ।"

"किसी डाक्टर को दिखाइए, रोग का बढ़ना अच्छा नहीं।"

"अब मेरा डाक्टर यमराज ही होगा।"

मेरी आँखों में आँसू आ गये, सिर नीचे झुक गया। बाबूजी दूसरी ओर देख रहे थे, परन्तु मेरे आँसू उन्होंने देख लिये। बात-चीत का रंग बदल गया, बोले—"सावित्री, मैं तो अपने भाग्य को रो रहा हूँ, पर तुम्हें क्या हुआ है?"

मैंने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे उन्होंने मुझ पर कोई बड़ा अत्याचार किया हो, और कहा—आप मेरे पिता हैं, क्या आप भी मेरे आँसुओं का रहस्य नहीं समझते? आपकी हर एक बात छिपी कटार है, हरएक वचन विष में बुझा हुआ बाण। आपके मित्र हैं, सुहृद् हैं, काम काज है, क्लब है। आप बाहर चले जाते हैं, मैं बैठी कर्मों को रोती हूँ। मैं लड़की हूँ, लड़कियों के मुँह से ऐसी बात अच्छी नहीं लगती। परन्तु क्या करूँ? देखती हूँ, मेरे जीवन का सर्वस्व लुट रहा है। चुप कैसे रहूँ। आप देर करके मेरे भविष्य को अन्धकारमय बना रहे हैं।"

बाबूजी ने आतुर होकर कहा, "परन्तु सावित्री! देखकर मक्खी निगलना आसान नहीं। क्या तुझे विश्वास है कि वह तेरी सेवा-शुश्रूषा से अच्छा हो जायगा।"

"हाँ, मुझे विश्वास है कि मैं उन्हें बचा लूँगी। कवि बेपरवा होते हैं, प्रायः पढ़ने-लिखने में लगे रहते हैं। मैं उन्हें जीवन के समस्त झंझटों से निश्चिन्त कर दूँगी और घर का सारा प्रबन्ध स्वयं सँभाल लूँगी। दिन-रात कविता लिखने के कारण ही उनकी यह दशा हुई है। जिस पत्रिका को देखो उसी में उनकी कविता दिखाई देती है। मैं उनको इस काम से रोक दूँगी। कहूँगी, पहले अपने स्वास्थ्य की ओर तो देखो, पीछे कविता भी हो लेगी। नौकरों के हाथ की रोटियाँ खाते हैं, खाया-पिया क्या तन लगेगा। स्तुति करने को सभी हैं, सहानुभूति किसी में नाम को नहीं।

बाबूजी पर मेरी इन बातों का बहुत ही प्रभाव हुआ। कुछ समय के लिये उनका मुँह बन्द हो गया। फिर बोले, "यह सब ठीक है, परन्तु कहने और करने में बड़ा भेद है। मुझे सन्देह है कि जो कुछ तुम कह रही हो उसे कर भी सकोगी या नहीं।"

मेरा मुख लाल हो गया, जैसे भरे बाजार में सिर से दुपट्टा उतर गया हो, फिर भी सँभलकर बोली—"मैं अपने वचनों के उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं। जो कुछ कहा है, करके दिखा दूँगी।"

"यह सब भावना की बातें हैं, समय पर धुएँ की नाईं उड़ जाती हैं।"

"मेरे विचार में संसार भावनाओं ही पर जीता है।"

बाबूजी चुप हो गये, कोई उत्तर न सूझा। थोड़ी देर सिर झुकाकर सोचते रहे। फिर एकाएक उठे और मुझसे कुछ कहे सुने बिना बाहर चले गये।

(५)

विवाह हो गया। वह बात झूठ निकली। उन्हें कोई रोग न था। यह सब किसी की शरारत थी। उनका स्वास्थ्य देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। मुख पर लाली है, नेत्रों में ज्योति। मुझे देखते हैं, तो कली की नाईं खिल जाते हैं। मैंने कई कवियों के चरित्र पढ़े हैं, और एक दोष सब में देखा है। वह यह कि उनका आचरण कुछ इतना पवित्र नहीं होता। परन्तु उनके विषय में यह कल्पना करना भी पाप है। वह बहुत ही शरमीले हैं, किसी पराई स्त्री के सामने आँख नहीं उठाते। वह इसे भी सदाचार से गिरा हुआ समझते हैं। मेरी कोई सहेली आ जाती तो उठकर अन्दर चले जाते हैं। मैं बहुतेरा समझाती हूँ, तुम मर्द हो, यदि स्त्री पर्दा नहीं करती तो पुरुष क्यों करे। परन्तु वे हँसकर टाल देते हैं। मुझे उन पर पूरा-पूरा विश्वास है। मैं समझती हूँ, सब कुछ हो सकता है, परन्तु उनके मन में मैल नहीं आ सकता। ऐसा पुरुष मिल जाना मेरा सौभाग्य है। उन्होंने अपना आप मुझ पर छोड़ दिया

है। घर-बार का स्याह-सफ़ेद सब मेरे ही हाथ में है। कपड़े तक स्वयं नहीं बदलते। यदि मैं न कहूँ तो पूरा अठवाड़ा निकल जाता है और उन्हें ध्यान भी नहीं आता कि कपड़े मैले हो गये हैं। उनके दूध का, फलों का, कमरे की सफाई का मुझे ही प्रबन्ध करना पड़ता है। सोचती हूँ, यदि मेरे स्थान पर कोई दूसरी बेपरवा मनमानी करनेवाली स्त्री आ जाती तो क्या होता। घर में धूल उड़ने लगती। थोड़े ही दिनों में बीमार हो जाते। उन्हें अपने दफ्तर की सफाई का भी ध्यान नहीं। उसका भी मुझे ही ध्यान रखना पड़ता है। नौकर सिर चढ़ा रक्खे थे, पर अब सँभल गये हैं। ये निगोड़े आपसे आप तो कोई काम करते ही नहीं। जब तक सिर न खड़े रहो तब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। कभी-कभी उन पर क्रोध आ जाता है। वे क्यों दबदबे से काम नहीं लेते। मैं चार दिन के लिये बाहर चली जाऊँ तो घर में कीड़े रेंगने लगें।

एक दिन मैंने कहा—"सारे भारतवर्ष में तुम्हारी कविता की धाक बँधी हुई है, परन्तु क्या यह भी किसी को पता है कि तुम इतने बेपरवा, ऐसे आलसी हो?"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया—"तुम एक लेख न लिख दो।"

"बदनाम हो जाओगे।"

"उसमें-से कुछ भाग तुम्हें भी तो मिलेगा?"

"मैं क्यों लेने लगूँगी। तुम हँसकर टाल देते हो। जरा सोचो तो सही, ऐसी बेपरवाई भी किस काम की?"

"मैंने तुम्हें घर की रानी बना दिया।"

मैंने धीरे से कहा—"घर की रानी तो मैं बनी, परन्तु तुम अपने दफ्तर की ओर तो ध्यान दिया करो।"

"मैं तुम्हें अपना सुपरिंटेंडेंट समझता हूँ।"

"मैं रूठकर चली गई। परन्तु हृदय आनन्द के हिलोरे ले रहा था, जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल पर नाचता है। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं दफ्तर की ओर गई तो दरवाजे के साथ एक छोटा-सा बोर्ड लटकता देखा। उस पर लिखा था—

सावित्री देवी, बी० ए०, सुपरिंटेंडेंट।

मैंने उसे जल्दी से उतारकर उनके सामने जा-फेंका और कहा,—"ये शरारतें देखकर लोग क्या कहेंगे।"

उन्होंने मेरी ओर देखा और मुस्कराकर भुजाएँ फैला दीं।

(६)

सन्ध्या का समय था। मैंने अपनी सबसे बढ़िया पोशाक पहनी और उनके पास जाकर कहा—"बाहर चलोगे, थोड़ा घूम आयें।" वे उस समय कविता में मग्न थे, धीरे से बोले, 'इस समय बात न करो। बड़ा विचित्र विचार सूझा है उसको प्रकट करने के लिये शब्द ढूँढ़ रहा हूँ।

मुझे विष-सा चढ़ गया। कैसे पुरुष हैं, सदा अपनी ही धुन में मग्न रहते हैं। इतना भी नहीं होता कि मेरी किसी समय तो मान लिया करें। पहले मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे, परन्तु अब तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इनका हृदय प्रेम से शून्य हो गया है। हाँ, कविता में हृदय निकालकर रख देते हैं। मेरी आँखों से आग बरसने लगीं, मुँह से बोली—"सदा कविता ही सूझती रहती है या किसी समय संसार का भी ध्यान आता है?"

"इस कविता से साहित्य-संसार में शोर मच जायगा।"

"तुम्हें मेरा भी ध्यान है या नहीं।"

"यह अपने हृदय से पूछो।"

"मैं हृदय से नहीं पूछती, स्वयं तुम से पूछती हूँ। जरा आँखें उठाकर उत्तर दो न।"

"यह कविता देखकर फड़क उठोगी। ऐसी कविता मैंने आज तक नहीं लिखी।"

मैंने आशा-सी होकर कहा—"मेरी बड़ी इच्छा थी कि आज थोड़ा घूम आती, इस कविता ने काम बिगाड़ दिया। जी चाहता है, कागज छीनकर दवात तोड़ दूँ।"

"दवात कागज की हानि साधारण बात है, परन्तु ये विचार फिर न मिलेंगे। आज अकेली चली जाओ।"

"मेरा मन नहीं मानता।"

उन्होंने हाथ से इशारा किया और फिर कागज पर झुक गये। मेरे हृदय में बर्छी-सी लगी। उन्हें कविता का ध्यान है, मेरा नहीं। संसार में नाम चाहते हैं, परन्तु घर में प्रेम नहीं चाहते। यहाँ से चली तो हृदय पर बोझ-सा प्रतीत हुआ। अकेली सैर को निकल गई, परन्तु चित्त उदास था, सैर में जी न लगा। हारकर एक पुल पर बैठ गई, और अपनी दशा पर रोने लगी। इन आँसुओं को देखकर पहले बाबूजी व्याकुल हो जाते थे। विवाह हुआ तो मेरे सुख-दुख का भार एक कवि को सौंपा गया। परन्तु अब इन आँसुओं को देखनेवाला, इन पर कलेजा मलनेवाला कोई न था। मुझे ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मेरी नाव नदी के धार में वेग से बही जाती है और उस पर कोई मल्लाह नहीं है। मैं अपनी बेबसी पर कुढ़ती थी। कभी-कभी आँख उठाकर देख भी लेती थी कि कदाचित् आ रहे हों। प्रेम जल्दी निराश नहीं होता।

मेरी आँखें जल की ओर थीं। सोचती थी, यदि कोई शक्ति मन्त्र-बल से मुझे जल की लहर बना दे तो गंगा की लहरों में खेलती फिरूँ। एकाएक आँखें झपक गईं, निद्रादेवी ने इच्छा पूरी कर दी। मैं गंगा में गिर गई। बहुतेरे हाथ-पाँव मारे, पर निकल न सकी। प्रवाह में बहने लगी।

सुध आई, तो मैं घर पर थी। वे सामने खड़े थे, कुर्सी पर एक डाक्टर बैठा था।

उन्होंने कहा—"अच्छी बचीं, इनका धन्यवाद करो। ये मेरे मित्र डाक्टर मणिराम हैं। आजकल काशी में इनके नाम की पूजा होती है। नदी में न कूद पड़ते तो तुम्हारा बचना असम्भव था।"

मैं धीरे से उठकर बैठ गई। साड़ी को सिर पर कर लिया और डाक्टर साहब की ओर देखा, मगर आँखें मिल न सकीं। मैंने कहा—

आँखों में कैसा प्रेम था, कैसा कटाक्ष और उनके साथ स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा। चटनी में खटाई के साथ शक्कर मिली हुई थी। मैं मतवाला-सा हो गया और झूमता-झामता घर पहुँचा, जैसे किसी ने शत्रु का दुर्ग जीत लिया।

कई दिन बीत गये। नयनों का प्रेम दृढ़ होता गया। पर अब उसे देखकर जी न भरता था; ओस की बूँदों से किसी की प्यास कब बुझी है? तृष्णा अपने पैर आगे वढ़ा रही थी। अन्तःकरण सावधान करता था, जैसे भय के समय कोई लाल झंडी दिखा दे। परन्तु कामदेव उस ड्राइवर के समान परवा न करता था जिसने शराब पी ली हो। यह शराब साधारण शराब न थी। यह वह शराब थी जो धर्म-कर्म सब चूल्हे में झोंक देती है और मनुष्य को बलात् भय के मुँह में डाल देती है। यह काम-वासना की शराब थी।

एक दिन बहुत रात गये घर लौटा। चित्त दुखी हो रहा था, जैसे कोई भारी हानि हो गई हो। परन्तु सावित्री दरवाजे पर ही खड़ी थी। मैं गद्गद प्रसन्न हो गया, मेरा घाटा पूरा हो गया था। सारा क्रोध और दुख दूर हो गया। सावित्री ने कहा, "आज आपको बड़ी देर हो गई।"

परन्तु आवाज थरथरा रही थी।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। शरीर पसीना-पसीना हो गया। छात्रावस्था में हमने सैकड़ों मुर्दे चीरे थे। उस समय भी यह अवस्था कभी न हुई थी। एक-एक अंग काँपने लगा। मैंने बड़ी कठिनाई से अपने आपको सँभाला और उत्तर दिया—"जी हाँ, कुछ मरीज देखने चला गया था। आप दरवाजे पर खड़ी हैं क्या किसी की प्रतीक्षा है?"

"हाँ, उनकी राह देख रही हूँ।"

"क्या आज कोई कवि-सम्मेलन है?"

"कवि-सम्मेलन तो नहीं। एक जलसे में गये हैं, वहाँ उन्हें अपनी नवीन कविता पढ़ना है।"

"तो बारह बजे से पहले न लौटेंगे।"

सावित्री ने सतृष्ण नयनों से मेरी ओर देखा, और एक मधुर कटाक्ष से ठंढी साँस भरकर कहा—"घर में जी नहीं लगता।"

"अभी तो आठ ही बजे हैं।"

"जी चाहता है, घड़ी की सुइयाँ घुमा दूँ।"

मेरे पैर न उठते थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई सुमधुर नाटक हो रहा है। परन्तु कोई देख न ले, इस विचार से पैर उठाने पड़े। हमें धर्म का विचार हो या न हो, परन्तु निन्दा का भय अवश्य होता है। सावित्री ने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, मानो कह रही है, "क्या तुम अब भी नहीं समझे।"

मैं आगे बढ़ा, परन्तु हृदय पीछे छूटा जाता था। वह मेरे बस में न था। घर जाकर चित्त उदास हो गया। सावित्री की मूर्ति आँखों में फिरने लगी। उसकी मधुर वाणी कानों में गूँजने लगी। मैं उसे भूल जाना चाहता था। मुझे डर था कि इस कूचे में पैर रखकर मैं बदनाम हो जाऊँगा। मुझ पर उँगलियाँ उठने लगेंगी। लोग मुझे भलामानस समझते हैं। यह करतूत मेरा सर्वनाश कर देगी। लोग चौंक उठेंगे। कहेंगे, कैसा भलामानस प्रतीत होता था, परन्तु पूरा गुरु-घंटाल निकला। प्रेक्टिस भी कम हो जायगी। वह विवाहिता स्त्री है। उसकी ओर मेरा हाथ बढ़ाना बहुत ही अनुचित है। परन्तु ये सब युक्तियाँ, सब विचार जल के बुदबुदे थीं। जितनी जल्दी बनते हैं, उससे जल्दी टूटे जाते हैं। वायु का हल्का-सा थपेड़ा उनका चिह्न तक मिटा देता है। मनुष्य कितना दुर्बल, कितना बेबस है!

दूसरे दिन मैं सत्यवान के घर पहुँचा। परन्तु पैर लड़खड़ा रहे थे, जैसे नया-नया चोर चोरी करने जा रहा हो। उस समय उसका हृदय किस प्रकार धड़कता है! कहीं कोई देख न ले, मुँह का रंग भेद न खोल दे। कभी-कभी भलमंसी-सा विचार भी आ जाता था। पैर आगे रखता था, हृदय पीछे हट जाता था। एकाएक मैंने एक छलाँग भरी और अन्दर चला गया। इस समय मेरे होंठ सूख रहे थे।

सत्यवान ने मुझे देखा तो कुर्सी से उछल पड़ा और बड़े प्रेम से मिला। देर तक बातें होती रहीं। सावित्री भी पास बैठी थी। मेरी आँखें बराबर उसके मुख पर लगी रहीं। पहले चोर था, अब डाकू बना। सावित्री की झिझक भी दूर हो गई। वह बात-बात पर हँसती थी! अब उसे मेरी ओर देखने में संकोच न था। लज्जा के स्थान पर चपलता आ गई थी। यहाँ से चला तो ऐसा प्रसन्न था, जैसे इन्द्र का सिंहासन मिल गया हो। तत्पश्चात् रास्ता खुल गया। दिन में कई वार सावित्री के दर्शन होने लगे। रात को दो-दो घंटे उसके पास वैठा रहता। मेरा और सावित्री का आँखों-आँखों ही में मन मिल गया। पर सत्यवान को कुछ पता न था। कल्पना-सागर से विचारों के मोती निकालनेवाला कवि, बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ानेवाले क्रांतिदर्शी विद्वान् अपने सामने की घटना को नहीं समझता था। उसकी कविता दूसरों को जगाती थी, परन्तु वह स्वयं सोया हुआ था। उस अनजान यात्री के समान जो नौका में बैठा दूर के हरे-हरे खेतों और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों को देख-देखकर झूमता है, परन्तु नहीं जानता कि उसकी अपनी नाव भयानक चट्टान के निकट पहुँच रही है; सत्यवान धीरे-धीरे विनाश की ओर वढ़ रहा था।

(८)

सावित्री

कितना अन्तर है। मणिराम की आँखें हृदय में आग लगा देती थीं। निकट आते तो मैं इस प्रकार खिंची जाती, जैसे चुम्बक लोहे की सूई को खींच लेता है। कैसा भोला-भाला लगता था, जैसे मुख में जीभ न होगी। परन्तु मेरे पास आकर इस प्रकार चहचहाता है, जैसे बुलबुल फूल की टहनी पर चहचहाता है। उनके विना अब जी नहीं लगता था। मकान काटने को दौड़ता था। चाहती थी मेरे पास ही बैठे रहें। किसी ने मुँह से नहीं कहा, परन्तु आँखों से पता चला कि महल्ले की स्त्रियाँ सब कुछ

समझ गई हैं। मेरी ओर देखतीं तो मुस्कराने लगतीं। इतना ही नहीं, अब वह भी अपने विचारों से चौंक उठे। कवि थे कुछ मूर्ख नहीं। वेपरवा थे, पर बेसमझ न थे। अब हाथ मसलकर पछताने लगे। संसार जीतते थे, घर गवाँ बैठे। अब सदा उदासीन रहते थे। रात को सो नहीं सकते थे। बात करती तो काटने को दौड़ते। आँखों में लहू उतर आता था। न खाने की ओर ध्यान था, न पीने की ओर। कई-कई दिन स्नान न करते थे। अब मुझे उनके कपड़े बदलवाने का शौक न था, न उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करती थी। कभी इन बातों में आनन्द आता था, अब इनसे जी घबराने लगा। कुछ दिन पश्चात् प्रयाग के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'सरस्वती' में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई जिसका पहला पद था—

भयो क्यों अनचाहत सों संग।

कविता क्या थी, उनकी अपनी अवस्था का चित्र था। मेरी आँखों से आग बरसने लगी। शेरनी की नाई बिखरी हुई उनके सामने चली गई, और बोली—"यह क्या कविता लिखने लगे हो अब ?"

उन्होंने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, जो पत्थर को भी मोम कर देतीं, शोक और निराशा का पूरा नमूना थीं। धीरे से बोले—"क्या है ?"

"यह कविता पढ़कर लोग क्या कहेंगे।"

"कवि जो कुछ देखता है, लिख देता है। इसमें मेरा दोष क्या है ?"

मैंने जरा पीछे हटकर कहा—"तुमने क्या देखा है ?"

"सावित्री ! मेरा मुँह न खुलवाओ। अपने अंचल में मुँह डालकर देख लो। मुझसे कुछ छिपा नहीं।"

मैंने क्रोध से कहा, गालियाँ क्यों देते हो ?

"गालियाँ इससे लाख गुना अच्छी होतीं।"

"तो तुम्हें मुझ पर सन्देह है।"

"सन्देह होता तो रोना काहे का था ? अब तो विश्वास हो चुका। कान धोखा खा सकते हैं, परन्तु आँखें धोखा नहीं खातीं। मुझे यह पता न था कि मेरा घर इस प्रकार चोपट हो जायगा।"

मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। पर प्रकृति, जहाँ दुराचार को जाना होता है वहाँ, निर्लज्जता को पहले भेज देती है। ढिठाई से बोली—

"तुम कविता लिखो, तुम्हें किसी से क्या?"

"घावों पर नमक छिड़कने आई हो।"

"मेरी ओर देखते ही न थे। उस समय बुद्धि कहाँ चली गई थी?"

"मैंने तुम्हें पहचाना नहीं था। नहीं तो आज हाथ न मलता।"

"परन्तु लोग तो तुम्हें वाह-वाह कह रहे हैं। जिस पत्र में देखो, तुम्हारी ही चर्चा है, पढ़कर प्रसन्न हो जाते होंगे।"

यह सुनकर वे खड़े हो गये। इस समय उनकी आँखों में पागलों की-सी लाली चमक रही थी। चिल्लाकर बोले, "अपनी मौत को न बुलाओ, मैं इस समय पागल हो रहा हूँ।"

"तो क्या मार डालोगे। बहुत अच्छा, यह भी कर डालो। अपने जी की इच्छा पूरी कर लो।"

उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा, जिस प्रकार सिंह अपने आखेट को मारने से पहले देखता है, और झपटकर अलमारी की ओर बढ़े। मेरा कलेजा धड़कने लगा, दौड़कर बाहर निकल गई। मेरा विचार था, वे मेरे पीछे दौड़ेंगे, इसलिए घर के सामने मैदान में जा खड़ी हुई। इस समय मेरी साँस फूली हुई थी, मृत्यु को सामने देख चुकी थी। परन्तु वे बाहर न आये। थोड़ी देर पीछे दन का शब्द सुनाई दिया। मैं दौड़ती हुई अन्दर चली गई। देखा, वे फर्श पर पड़े तड़प रहे थे। मृत्यु का दृश्य देखकर मैं डर गई। परन्तु मुझे दुःख नहीं हुआ। कहीं मुकद्दमे की लपेट में न आ जाऊँ यह चिन्ता अवश्य हुई।

दो मास बीत गये मैं अपने आँगन में बैठी मणिराम के लिये नेक-टाई बुन रही थी। मैंने लोकाचार की परवा न करके उनसे विवाह का निश्चय कर लिया था। लोग इस समाचार से चौंक उठे थे। परन्तु मैं उनके मरने से प्रसन्न हो रही थी। समझती थी, जीवन का आनंद अब आवेगा। अचानक नौकर ने आकर डाक मेरे सामने रख दी। इसमें एक पैकेट भी था। मैंने पहले उसे खोला। यह मेरे मृतक पति की कवि-

ताओं का संग्रह था। मैंने एक दो कविताएँ पढ़ी। हृदय में हलचल मच गई। कैसे ऊँचे विचार थे, कसे पवित्र भाव, संसार की मलिनता से रहित। इनमें छल न था, कपट न था। इनमें आध्यात्मिक सुख था, शान्ति थी, माधुरी थी। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे, एकाएक तीसरे पृष्ठ पर दृष्टि गई। यह समर्पण का पृष्ठ था। मेरा लहू जम गया। पुस्तक मेरे नाम समर्पित की गई थी। एक-एक शब्द से प्रेम की लपटें आ रही थीं। परन्तु इस प्रेम और मणिराम के प्रेम में कितना अन्तर था। एक चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतल था, दूसरा अग्नि के समान दग्ध करनेवाला। एक समुद्र की नाईं गहन-गम्भीर, दूसरी पहाड़ी नाले के समान वेगवान। एक सचाई था परन्तु निश्शब्द, दूसरा झूठा था पर बड़बोला। मेरी आँखों के सामने से पर्दा उठ गया। सतीत्व के उच्च शिखर से कहाँ गिरने को थी, यह मैंने आज अनुभव किया। उठते हुए पैर रुक गये। मैंने पुस्तक को आँखों से लगा लिया और रोने लगी।

• इतने में मणिराम अन्दर आये। मुख, आनेवाले आनन्द की कल्पना से लाल हो रहा था। उनके हाथ में एक बहुमूल्य माला थी जो उन्होंने मेरे लिए बंबई से मँगवाई थी। वह दिखाने आये थे। मुझे रोते देखकर ठिठक गये और बोले—"क्यों रो रही हो?"

"मेरी आँखें खुल गई हैं।"

"यह अपनी माला देख लो। कल विवाह है।"

"अब विवाह न होगा।"

"सावित्री, पागल हो गई हो?"

"परमात्मा मुझे इसी प्रकार पागल बनाये रक्खे।"

मणिराम आगे बढ़े। परन्तु मैं उठकर पीछे हट गई, और दरवाजे की ओर संकेत कर बोली—"उधर।"

उस रात मुझे ऐसी नींद आई, जैसी इससे पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परन्तु उनके प्रेम को न ठुकरा सकी। मनुष्य मर जाता है, उसका प्रेम जीता रहता है।

———

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

(जन्म-संवत् १९४८ वि०, निधन-संवत् २००२ वि०)

कहानी-लेखक और उपन्यासकार

कानपुर की साहित्य-मंडली में कौशिकजी की अच्छी प्रतिष्ठा थी। आपकी कहानियों में वे सर्वश्रेष्ठ हैं जिनमें गार्हस्थ्य-जीवन के मार्मिक चित्र अंकित किए गए हैं। पारिवारिक अथवा कौटुम्बिक सम्बन्धों को कौशिक जी ने बड़े कौशल से उद्घाटित किया है। 'चाँद-माधुरी' आदि पत्रिकाओं में ढेर-की-ढेर कहानियाँ लिखने के कारण उन्हें कहीं-कहीं बेगार भी करनी पड़ी है, पर स्वाभाविक प्रेरणा से लिखी गई उनकी कहानियाँ उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। 'ताई' शीर्षक उनकी कहानी जिसे हम यहाँ देते हैं, उनकी श्रेष्ठ कृतियों में से है।

ताई

(१)

"ताऊजी, हमें लेलगाड़ी (रेलगाड़ी) ला दोगे ?"—कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा ।

बाबू साहब ने दोनों बाँहें फैलाकर कहा—"हाँ बेटा, ला देंगे।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालका को गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी ?"

बालक बोला—"उसमें बैठ के बली दूल जायँगे। हम भी जायँगे चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी, तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे।"

बाबू—"और किसको ले जायगा ?"

बालक दम-भर सोचकर बोला—"बछ, औल किछी को नहीं ले जायँगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगिनी बैठी थीं। बाबूसाहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—"और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायँगे।"

ताईजी सुपारी काटती बोलीं—"अपने ताऊजी ही को ले जा! मेरे ऊपर दया रख!"

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरत ताड़ गया। बाबूसाहब ने फिर पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?"

बालक—"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।"

बाबू—"जो प्यार करें, तो ले जायगा ?"

बालक को इसमें कुछ संदेह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि यह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा—"क्यों रे, बोलता नहीं ? ताई प्यार करें तो रेल पर बिठाकर ले जायगा ?"

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिये केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनीजी के पास ले-जाकर उनसे बोले—"लो, इसे प्यार कर लो, तो यह तुम्हें भी ले जायगा।" परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाजी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोलीं—"तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"प्यार नहीं करोगी तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा।—क्यों रे मनोहर ?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में तो चोट नहीं लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकारकर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपने ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है ? बच्चे को ढकेल दिया ! जो उसके चोट लग जाती ?"

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोलीं—"लग जाती, तो अच्छा होता। क्यों मेरी खोपड़ी पर लादे देते थे ? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं! तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुःख-सुख सूझता ही नहीं। न-जाने कब किसका जी कैसा होता है। तुम्हें इन बातों की कोई परवा नहीं, अपनी चुहल से काम है!"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो, प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है!"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और, होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराए धन से भी कहीं घर भरता है।"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे।"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोली—"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनियाँ से निराला है। आदमी सन्तान के लिये न-जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं, पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—"पूजा-पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुआँसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिये चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं, अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गये।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है कृष्ण-दास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लग-भग। रामजीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तान-हीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मन्द वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी माँ के पास गये थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—"आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोलीं—तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पंडित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म-पत्र में सन्तान का जोग

है, और उपाय करने से सन्तान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताए थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगाता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना न होना तो भगवान् के अधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी सीधी स्त्री भी क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनियाँ-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पंडित कुछ अपनी तरफ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेजी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझती नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। सम्भव है, वह सच्चा हो। परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता ही नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है।"

रामेश्वरी—"हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में सन्तान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में सन्तान का मुख देखने की इच्छा न हो? परन्तु किया क्या जाय? जब नहीं है, और न होने की कोई

आशा ही है, तब उसके लिये व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ? इसके सिवा जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की सन्तान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—'तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?"

बाबू साहब हँसकर बोले—"अरे तुम भी कहाँ की पोच बातें लाईं। नाम संतान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गए हैं, उन सबका नाम क्या उनकी संतान ही की बदौलत चल रहा है? सच पूछो, तो संतान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की संभावना रहती है। परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरिधारीलाल कितने नामी आदमी थे? उनके सन्तान कहाँ हैं? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न-जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी मुक्ति नहीं होती?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी की मानते ही नहीं।"

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता। किन्तु भद्दी-से-भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली वस्तु को भी यदि मनुष्य अपना समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता, इसलिये कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इसलिये कि वह अपनी चीज है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है। ये कभी पृथक नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अंतर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं। परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिये उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था, परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पति-देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हे-नन्हे मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर दौड़ता हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा-गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गई। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिये तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।"—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आए। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देख-कर उनकी भौंहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आए, और मुस्कराकर बोले—"आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं!

इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ' प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमजोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमजोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिये असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिये मैं कहता हूँ कि अपनी संतान के लिये सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी संतान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितान्त शुद्ध हृदय से कही थी; परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गन्ध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।"

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या लाभ? अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोली—"मुझे क्या पड़ी है जो मैं प्रेम करूँगी? तुम्हीं को मुबारक रहे! निगोड़े आप ही आ-आ के घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना -बोलना पड़ता है। अभी परसों जरा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाई। संकट में प्राण है, न यों चैन, न वों चैन"

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी खासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह

रंग बदलने लगीं। अपनी इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा। पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाला तो अच्छा न होगा! तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं!"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों-द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नजर से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय में बड़ा तूफान उठा। उन्होंने सोचा—पराए बच्चों के पीछे मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं! दुनियाँ मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गए। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे उस दिन घी के दिये जलाऊँगी। उन्होंने ही मेरा घर सत्यानाश कर रखा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्ट-दायक मालूम होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिये उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भृकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतंगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़ कर रामेश्वरी के पास आया, और उनकी टाँगों में लिपटकर बोला—"ताई, हमें पतंग मँगा दो।" रामेश्वरी ने झिड़ककर कहा—"चल हट अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण-स्वर में कहा—"ताई, पतंग मँगा दो; हम भी उड़ावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं। फिर उन्होंने एक लंबी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़-मारा कितना सुन्दर है, और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है। यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कहकर तुम्हें पिटवावेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी तथापि रामेश्वरी का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—"जा, कह दे अपने ताऊजी से। देखूँ, वह मेरा क्या कर लेंगे।"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है कि बालिश्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई, छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था, जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिये वह दौड़कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया, और उनसे दो फीट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे, घर के आँगन में, जा-गिरी। एक पैर छज्जे की मुड़ेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका, और पतंग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिये शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँड़ेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मूँड़ेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक गया, और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"ताई !" रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यह सोचकर वह एक क्षण के लिये रुकीं। उधर मनोहर के हाथ मुँड़ेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई !" रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के हाथ से मुँडेर छूट गई। वह नीचे आ-गिरा। रामेश्वरी चीख मारकर छज्जे पर गिर पड़ी।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह जोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—"देखो-देखो वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं—

"बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी——मैंने देर कर दी।" इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा——"मनोहर कैसा है?"

रामजी दास ने उत्तर दिया——"अच्छा है।"

रामेश्वरी——"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई, हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गई। अब वह मनोहर की बहन कुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं और मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(जन्म-संवत् १९६४ वि०)

सम्पादक, समालोचक, कवि और कहानी-लेखक

'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए बख्शी जी ने हिन्दी की जो सेवा की वह सर्वथा स्तुत्य है। उसी बीच में उन्होंने समालोचनाएँ लिखीं, कविता रची और कहानियों का निर्माण किया। वे अध्ययनशील और विद्वान् हैं। अंग्रेजी और बंगला साहित्य का विशेष ज्ञान रखते हैं। उनकी कहानियों में निबंधात्मकता रहा करती है। यद्यपि बख्शी जी की मौलिक कहानियाँ थोड़ी हैं और उनमें विशुद्ध कहानी की अपेक्षा दूसरे कलारूपों का मेल अधिक रहता है, पर उनकी कहानियों में उनका अपनापन है। यहाँ हम उनकी 'नन्दिनी' शीर्षक कहानी प्रकाशित करते हैं।

नन्दिनी

जाति में अहीर होने पर भी गाँव में गोविन्द की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसकी सुजनता देखकर सब लोग उसका आदर करते थे। प्रायः देखा जाता है कि थोड़ा भी धन हो जाने पर नीच लोगों को बड़ा अभिमान हो जाता है। पर गोविन्द ने कभी अपने धन का दर्प नहीं किया। वह सदा सब लोगों से कहा करता—"यह आप ही की दया-दृष्टि है, जो मैं आज खाने-कमाने लगा हूँ।"

गोविन्द के एक ही लड़का था, उसका नाम था मोहन। उसका स्वभाव कुछ विचित्र था। वह कभी किसी के साथ न रहता था। उसे एकान्त-वास ही प्रिय था। अपनी ही अवस्थावाले लड़कों के साथ खेलने में उसे भय होता था। यदि कोई उससे कुछ पूछता तो वह घबराकर कुछ का कुछ कह जाता। उसकी यह दशा देखकर सब हँसते थे। पर वह यह निरादर चुपचाप सह लेता था। गोविन्द को अपने पुत्र के विषय में बड़ी चिन्ता थी। वह चाहता था कि मोहन भी उसकी तरह पढ़-लिख कर चार लोगों में प्रतिष्ठित हो जाय। उसने उसके लिए बड़ी चेष्टा की। पंडितजी को तो—जो अहीर के लड़के को पढ़ाने में अपनी मानहानि समझते थे—किसी प्रकार अपनी ओर कर लिया। पर मोहन के भाग्य में विद्या थी ही नहीं। पर पंडित जी की हृदय-ग्राहिणी शिक्षा से भी वह कुछ लाभ न उठा सका, हिन्दी-शिक्षावली को समाप्त करके ज्यों ही उसने रघुवंश और कौमुदी के पृष्ठों पर दृष्टिपात किया त्यों ही उसका साहस छूट गया। पंडितजी ने अपनी ओर से खूब प्रयत्न किया, पर हुआ कुछ नहीं। अन्त में उन्होंने एक दिन गोविन्द से आकर कह दिया कि वे अब मोहन को न पढ़ा सकेंगे।

गोविन्द निराश होकर मोहन को घर का उद्यम सिखाने लगा। पर इसमें भी उसका मनोरथ सफल न हुआ। प्रातःकाल उठकर मोहन अपनी

वंशी लेकर किसी निर्जन स्थान में चला जाता और वृक्ष के ऊपर चढ़कर स्वर और लय का बिना विचार किये ही अपनी वंशी की विचित्र ध्वनि से प्रकृति को मुग्ध करने की चेष्टा करता। हम नहीं कह सकते कि प्रकृति इस धृष्ट गायक के अनर्गल संगीत से सन्तुष्ट होती थी कि नहीं; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह प्रतिदिन मोहन को अपनी प्रतिध्वनि के द्वारा शिक्षा देती थी। अपने गुरु और पिता के प्रयासों को विफल करके मोहन प्रकृति से शिक्षा लेने लगा।

कुछ दिनों बाद गोविन्द की मृत्यु हो गई। मोहन को कुछ ज्ञान तो था ही नहीं, विधवा माता पर ही घर का भार पड़ा। कुछ लोगों से सहायता लेकर वह सब काम करने लगी। उसने भी कई बार मोहन को काम सीखने के लिए कहा। पर मोहन ने सदा यही उत्तर दिया—"माँ, मैं तो निर्बुद्धि हूँ; मैं क्या सीखूँगा?" फिर समय वैसा ही व्यतीत होने लगा। मोहन की दिनचर्य्या में कुछ भी फेरफार न हुआ। प्रातःकाल से सायंकाल तक प्रकृति की संगीत-शिक्षा होने लगी।

एक दिन मोहन की मौसी अपनी बहिन को देखने के लिए आई। बहिन ने उससे अपने पुत्र की कथा कही। मौसी ने दीर्घ निश्वास लेकर कहा—"क्या करोगी, बहिन! जो भाग्य में लिख गया है वह अवश्य होगा।" थोड़ी देर में मोहन आया। तब उसे बुलाकर उसकी मौसी कहने लगी—"बेटा! मेरे एक गाय है। उसे देखनेवाला कोई नहीं। तुम घर का काम तो करते ही नहीं। चलो उसी को लाकर सेवा किया करो।" मोहन ने स्वीकार कर लिया। दूसरे ही दिन मौसी के घर जाकर वह गाय ले आया।

मोहन ने अपनी गाय का नाम रक्खा नन्दिनी। उसने अपने पंडित-जी से सुन लिया था कि वशिष्ठ की धेनु का नाम नन्दिनी था। दिलीप के सदृश वह भी छाया की तरह नन्दिनी के साथ रहने लगा। जहाँ वह जाती थी, जाता था। उसकी गति में वह कभी बाधा नहीं डालता था। नन्दिनी से उसका प्रेम इतना बढ़ गया कि वह क्षण भर भी उसके बिना न रह सकता था। अब वह जड़ प्रकृति को अपनी वंशी की ध्वनि न

सुनाता था। उसकी वंशी पर अब केवल नन्दिनी का अधिकार था। नहीं मालूम, उसकी इस निष्काम सेवा की ओर नन्दिनी की कैसी दृष्टि थी।

एक बार जब वह सो रहा था, नन्दिनी (कदाचित् उसके प्रेम की परीक्षा करने के लिए) न जाने कहाँ चली गई। मोहन को बड़ी चिन्ता हुई। दिन भर ढूँढ़ता रहा। पर नन्दिनी का पता न लगा। सन्ध्या समय वह उदास होकर घर लौटा। माता ने पूछा—"नन्दिनी कहाँ है" ? माता के कोप से बचने के लिए उसने कह दिया—"मौसी के घर छोड़ आया हूँ।" माता चुप हो रही। पर मोहन से रात को भी न रहा गया। माता से कुछ बहाना करके वह घर से निकल पड़ा। रात भर खोजता रहा। अन्त में उसका परिश्रम सफल हुआ। रायबाबू के उद्यान में एक कदम्ब वृक्ष के नीचे नन्दिनी निश्शंक बैठी मिली। मोहन तुरन्त ही उसके गले से लिपट गया और रोकर कहने लगा—"नन्दिनी बनकर रहो मेरे हृदय की बन्दिनी"। कहने की आवश्यकता नहीं यह उसकी पद्य-रचना थी, जिसका उसे बड़ा अभिमान था।

अब नन्दिनी प्रतिदिनि ही राय बाबू के उद्यान में जाने लगी। वह सदा उसी कदम्ब के नीचे जाकर बैठती, मोहन भी उसके साथ जाता और कदम्ब की एक शाखा पर बैठा रहता। वह कदम्ब, राय बाबू की अट्टालिका से लगा हुआ था। जहाँ मोहन बैठता था उसके सामने एक खिड़की थी, वह सदा बन्द रहती थी। एक दिन, मध्याह्न काल में, जब सूर्य की प्रखर ज्वाला से सन्तप्त होकर प्रकृति निश्चेष्ट-सी हो रही थी मोहन निश्चिन्त होकर कदम्ब की शाखा पर बैठा हुआ गा रहा था—"नन्दिनी बनकर रहो मेरे हृदय की बन्दिनी।" इतने में उसने देखा कि नन्दिनी उठकर कहीं जा रही है, तब उसे न जाने क्या हुआ। वह जोर से पुकार-रने लगा—"नन्दिनी, नन्दिनी।"

सहसा सामनेवाली खिड़की खुली और एक रमणी ने अपना मुँह बाहर निकालकर उससे पूछा—"क्यों, मुझे क्यों पुकारते हो ?" मोहन ने विस्मित होकर कहा—"तुम्हें !" रमणी ने रुष्ट होकर उत्तर दिया—

"हाँ मुझे! मैं ही नन्दिनी हूँ।" मोहन कुछ देर तक भय से स्तम्भित हो गया। फिर उसने विनयपूर्वक कहा—"मुझे क्षमा करो, मैं नहीं जानता था। मैं अपनी गाय को पुकार रहा था। उसका भी नाम नन्दिनी है।' रमणी ने भृकुटि संकुचित करके कहा—ऐसा! फिर तुरन्त ही खिड़की बन्द हो गई। थोड़ी देर तक मोहन कुछ समझ न सका। फिर वह धीरे से उतर आया और नन्दिनी को लेकर घर लौट पड़ा।

घर में आकर उसने देखा कि राय बाबू का दरवान रघुनाथ उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। उसे देखते ही रघुनाथ कहने लगा—"राय बाबू ने तुम्हारी गाय मोल ले ली है। चलकर तुम इसे गोशाला में बाँध आओ।"

मोहन का हृदय एक बार जोर से धक करके रह गया, फटा नहीं। वह चुपचाप रघुनाथ के साथ अपनी नन्दिनी को राय बाबू की गोशाला में छोड़ आया।

उस दिन से मोहन की दिन-चर्या में परिवर्तन हो गया। वह निर्जन वन की ओर न जाकर घर का काम-काज देखने लगा। माता को बड़ी प्रसन्नता हुई। पर उसे यह नहीं मालूम हुआ कि उसकी प्रसन्नता के लिए मोहन को क्या देना पड़ा।

———

श्रीशिवपूजन सहाय

(जन्म-संवत् १९५० वि०)

सम्पादक, गद्यकाव्यकार, कहानी-लेखक और औपन्यासिक

बिहारप्रान्त के यशस्वी लेखकों में शिवपूजनजी का स्थान ऊँचा है। मँजी भाषा लिखने की दृष्टि से तो वे प्रान्तभर में सर्व-श्रेष्ठ और हिन्दी के थोड़े लोगों में गिने जाएँगे। उनकी कहानियों की भाषा परिष्कृत और प्रांजल होती है। आधुनिक लेखक साधारण बोलचाल की भाषा में वास्तविक जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालते और उनका चित्र दिखाते हैं, परंतु जीवन की व्यापकता इतनी ही नहीं है। उसका क्षेत्र अति विस्तृत है। पश्चिम में आज भी सामयिक जीवन और स्थिति से अलग रहकर मार्मिक कहानियाँ लिखी जाती हैं, जिनमें किसी जीवनानुभव या दार्शनिकता का स्थान रहता है। सभी कहानियाँ 'कहानी' के किसी एक ही रूढ़ रूप की अनुवर्तिनी हों, यह भी आवश्यक नहीं। शिवपूजन जी की 'मुण्डमाल' कहानी का स्वरूप भी अपनी स्वतंत्र विशेषता रखता है।

मुंडमाल !

(१)

आज उदयपुर के चौक में चारों ओर बड़ी चहल-पहल है। नवयुवकों में नवीन उत्साह उमड़ उठा है मालूम होता है कि, किसी ने यहाँ के कुओं में उमंग की भंग घोल दी है। नवयुवकों की मूँछों में ऐंठ भरी हुई है। आँखों में ललाई छा गयी है। सब की पगड़ी पर देशानुराग की कलँगी लगी हुई है। हर तरफ से वीरता की ललकार सुन पड़ती है। बाँके-लड़ाके वीरों के कलेजे रण-भेरी सुनकर चौगुने होते जा रहे हैं। नगाड़ों से तो नाकों में दम हो चला है। उदयपुर की धरती, धौंसे की धुधुकार से डगमग कर रही है। रणरोष से भरे हुए घोड़े डंके की चोट पर उड़ रहे हैं। मतवाले हाथी हर ओर से, काले मेघ की तरह, उमड़े चले आते हैं। घंटों की आवाज से समूचा नगर गूँज रहा है। शस्त्रों की झनकार और शंखों के शब्द से दसों दिशाएँ सरस-शब्द-मयी हो रही हैं। बड़े अभिमान से फहराती हुई, विजय-पताका राजपूतों की कीर्ति-लता-सी लहराती है। स्वच्छ आकाश के दर्पण में अपने मनोहर मुखड़े निहारनेवाले महलों की ऊँची-ऊँची अटारियों पर चारों ओर सुन्दरी-सुहागिनियाँ और कुमारी कन्याएँ भर-भर अंचल फूल लिये खड़ी हैं, सूरज की चमकीली किरणों की उज्ज्वल धारा से धोए हुए आकाश में चुभनेवाले कलश, महलों के मुँड़ेरों पर, मुस्कुरा रहे हैं। बन्दीवृन्द विशद विरुदावली बखानने में व्यस्त हैं।

महाराणा राजसिंह के समर्थ सरदार चूड़ावतजी आज औरंगजेब का दर्प दलन करने और उसके अन्धा-धुन्ध अन्धेर का उचित उत्तर देने जानेवाले हैं। यद्यपि उनकी अवस्था अभी अठारह वर्षों से अधिक नहीं है; तथापि जंगी जोश के मारे वे इतने फूल गये हैं कि, कवच में नहीं अँटते।

उनके हृदय में सामरिक उत्तेजना की लहर लहरा रही है। घोड़े पर सवार होने के लिये वे ज्यों ही हाथ में लगाम थामकर उचकना चाहते हैं, त्यों ही अनायास उनकी दृष्टि सामनेवाले महल की झँझरीदार खिड़की पर, जहाँ उनकी नवोढ़ा पत्नी खड़ी है, जा पड़ती है।

हाड़ा-वंश की सुलक्षणा, सुशीला और सुन्दरी सुकुमारी कन्या से आपका व्याह हुए दो-चार दिनों से अधिक नहीं हुआ होगा। अभी नवोढ़ा रानी के हाथ का कंकण हाथ ही की शोभा बढ़ा रहा है। अभी कजरारी आँखें अपने ही रंग में रँगी हुई हैं। पीत-पुनीत चुनरी भी अभी धूमिल नहीं होने पाई है। सोहाग का सिन्दूर दुहराया भी नहीं गया है। फूलों की सेज छोड़कर और कहीं गहनों की झनकार भी नहीं सुन पड़ी है। अभी पायल की रुन-झुन ने महल के एक कोने में ही बीन बजायी है। अभी घने पल्लवों की आड़ में ही कोयल कुहकती है। अभी कमल-सरीखे कोमल हाथ पूजनीय चरणों पर चन्दन ही भर चढ़ा पाये हैं। अभी संकोच के सुनहरे सींकड़ में बँधे हुए नेत्र लाज ही के लोभ में पड़े हुए हैं। अभी चाँद बादल ही के अन्दर छिपा हुआ था; किन्तु नहीं, आज तो उदयपुर की उदित-विदित शोभा देखने के लिये घन-पटल में से अभी-अभी वह प्रकट हुआ है।

चूड़ावतजी, हाथ में लगामँ लिए ही, बादल के जाल से निकले हुए उस पूर्णचन्द्र पर टकटकी लगाये खड़े हैं। जालीदार खिड़की से छन-छनकर आनेवाली चाँद की चटकीली चाँदनी ने चूड़ावत-चकोर को आपे से बाहर कर दिया है! हाथ का लगाम हाथ ही में है, मन का लगाम खिड़की में है! नये प्रेम-पाश का प्रबल बन्धन प्रतिज्ञापालन का पुराना बन्धन ढीला कर रहा है! चूड़ावतजी का चित्त चंचल हो चला। वे चटपट चन्द्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिन्ता में चूर हैं; पर चन्द्र-दर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चन्द्र-भवन पर चढ़ चुके; पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।

हृदय-हारिणी हाड़ी रानी भी, हिम्मत की हद करके, हल्की आवाज से, बोलीं,—"प्राणनाथ! मन मलिन क्यों है? मुखारविन्द मुर्झाया है? क्यों

न तन में तेज ही देखती हूँ, न शरीर में शान्ति ही! ऐसा क्यों? भला, उत्साह की जगह उद्वेग का क्या काम है? उमंग में उदासीनता कहाँ से चू पड़ी? क्या कुछ शोक-संवाद सुना है? जब कि सभी सामन्त-सूरमा, संग्राम के लिये, सज-धजकर आप ही की आज्ञा की आशा में अँटके हुए हैं, तब क्या कारण है कि, आप व्यर्थ व्याकुल हो उठे। उदयपुर के बाजे-गाजे के तुमुल शब्द से दिग्दिगन्त डोल रहा है! वीरों के हुंकार से कायरों के कलेजे भी कड़े हो रहे हैं। भला ऐसे अवसर पर आपका चेहरा क्यों उतरा हुआ है? लड़ाई की ललकार सुनकर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है; फिर आप तो छात्र-तेज से भरे हुए क्षत्रिय हैं। प्राणनाथ! शूरों को शिथिलता नहीं शोभती। क्षत्रिय का छोटा-मोटा छोकरा भी क्षण भर में शत्रुओं को छील-छालकर छुट्टी कर देता है; परन्तु आप प्रसिद्ध पराक्रमी होकर क्यों पस्त पड़ गये?"

चूड़ावतजी चन्द्रमा में चपला की-सी चमक-दमक देख, चकित होकर बोले,—"प्राणप्यारी! रूपनगर के राठौरवंश की राजकुमारी को दिल्ली का बादशाह बलात्कार से व्याहने आ रहा है। उसके पहले ही वह राज-कन्या हमारे माननीय राणाबहादुर को वर चुकी है। कल पौ फूटते ही राणाजी रूपनगर की राह लेंगे। हम बीच ही में बादशाह की राह रोकने के लिये रण-यात्रा कर रहे हैं। शूर-सामन्तों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही; परन्तु हम लड़ाई से अपने लौटने का लक्षण नहीं देख रहे हैं। फिर कभी भर नजर तुम्हारे चन्द्र-वदन को देख पाने की आशा नहीं है। इस बार घनघोर युद्ध छिड़ेगा। हम लोग मन लगाकार, जी-जान से लड़ेंगे। हजारों हमले हड़प जायँगे। समुद्र सी सेना भी मथ डालेंगे। हिम्मत हर्गिज न हारेंगे। फौलाद-सी फौज को फौरन फाड़ डालेंगे। हिम्मत तो हजार गुनी है; मगर मुगलों की मुठभेड़ में महज मुट्ठी भर मेवाड़ी वीर क्या कर सकेंगे? तो भी हमारे ढलैत, कमनैत और बानैत ढाढ़स बाँधकर डट जायँगे। हम सत्य की रक्षा के लिये पुर्जे-पुर्जे कट जायँगे प्राणेश्वरी! किन्तु हमको केवल तुम्हारी ही चिन्ता बेढब सता रही है।

अभी चार ही दिन हुए कि, तुम-सी सुहागिन दुलहिन हमारे हृदय में उजेला करने आयी है। अभी किसी दिन तुम्हें इस तुच्छ संसार की क्षणिक छाया में विश्राम करने का भी अवसर नहीं मिला है! किस्मत की करामात है! एक ही गोटी में सारा खेल मात है! किसे मालूम था कि, एक तुम-सी अनूप-रूपा कोमलांगी के भाग्य में ऐसा भयंकर लेख होगा! अचानक रंग में भंग होने की आशा कभी सपने में भी न थी! किन्तु ऐसे ही अवसरों पर हम क्षत्रियों की परीक्षा हुआ करती है। संसार के सारे सुखों की तो बात ही क्या, प्राणों की भी आहुति देकर क्षत्रियों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता है।"

हाड़ी रानी, हृदय पर हाथ धरकर, बोलीं, "प्राणनाथ! सत्य और न्याय की रक्षा के लिये, लड़ने जाने के समय, सहज-सुलभ सांसारिक सुखों की बुरी वासना को मन में घर करने देना आप के समान प्रतापी क्षत्रिय-कुमार का काम नहीं है। आप आपात मनोहर सुख के फन्दे में फँसकर अपना जातीय कर्त्तव्य मत भूलिए। सब प्रकार की वासनाओं और व्यसनों से विरक्त होकर इस समय केवल वीरत्व धारण कीजिए। मेरा मोह-छोह छोड़ दीजिए। भारत की महिलाएँ स्वार्थ के लिये सत्य का संहार करना नहीं चाहतीं। आर्य्य-महिलाओं के लिये समस्त संसार की सारी सम्पत्तियों से बढ़कर "सतीत्व ही अमुल्य धन है!" जिस दिन मेरे तुच्छ सांसारिक सुखों की भोग-लालसा के कारण मेरी एक प्यारी बहन का सतीत्व-रत्न लुट जायगा, उसी दिन मेरा जातीय गौरव अरवली-शिखर के ऊँचे मस्तक से गिरकर चकनाचूर हो जायगा। यदि नव-विवाहिता उर्मिला देवी ने वीर-शिरोमणि लक्ष्मण को सांसारिक सुखोपभोग के लिये कर्त्तव्य-पालन से विमुख कर दिया होता तो, क्या कभी लखनलाल को अक्षय्य यश लूटने का अवसर मिलता? वीर-वधूटी उत्तरा देवी ने यदि अभिमन्यु को भोग-विलास के भयंकर बन्धन में जकड़ दिया होता तो क्या वे वीर-दुर्लभ गति को पाकर भारतीय क्षत्रिय-नन्दनों में अग्रगण्य होते? मैं समझती हूँ कि, यदि तारा की बात मानकर बाली भी, घर के कोने में

मुँह छिपाकर, डरपोक जैसा छिपा हुआ रह गया होता तो, उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि नसीब न होती। सती-शिरोमणि सीता देवी की सतीत्व-रक्षा के लिये जरा जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवायी जरूर; लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त-माँस का शरीर अमर नहीं होता; बल्कि उनका उज्ज्वल-यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्ति ही उनकी अभीष्टदायिनी कल्पलतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिये शुद्ध गंगाजल से भी बढ़कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिये रण-भूमि में व्रजमंडल की-सी होली मचानेवाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सहगामिनी है। आप सच्चे राजपूत वीर हैं; इसलिये सोत्साह जाइए और जाकर एकाग्र मन से अपना कर्त्तव्य पालन कीजिये। मैं भी यदि सच्ची राजपूत-कन्या हूँगी तो, शीघ्र ही आपसे स्वर्ग में जा मिलूँगी। अब विशेष विलम्ब करने का समय नहीं है।"

चूड़ावतजी का चित्त हाड़ी रानी, के हृदयरूपी हीरे को परखकर पुलकित हो उठा। प्रफुल्लित-मन से चूड़ावतजी ने रानी को बार बार गले लगाया। मानो वे उच्च भावों से भरे हुए, हाड़ी रानी के हृदय-पारस के स्पर्श से अपना लोह-ककश हृदय सुवर्णमय बना रहे हों। सचमुच, ऐसे ही हृदयों के आलिंगन से मिट्टी की काया भी कंचन की हो जाती है। चूड़ावतजी आप से आप कह उठे, "धन्य देवि ! तुम्हारे विराजने के लिये वस्तुतः हमारे हृदय में बहुत ही ऊँचा सिंहासन है। अच्छा, अब हम मरकर अमर होने जाते हैं। देखना, प्यारी ! कहीं ऐसा न हो कि—" (कंठ गद्गद् हो गया)

रानी ने फिर उन्हें आलिंगित करके कहा,—"प्राणप्यारे ! इतना अवश्य याद रखिए कि, छोटा बच्चा चाहे आसमान छू ले, सीपी में सम्भवतः समुद्र समा जाय, हिमालय हिल जाय तो हिल जाय; पर भारत की सती देवियाँ अपने प्रण से तनिक भी नहीं डिग सकतीं।"

चूड़ावतजी प्रेम-भरी नजरों से एकटक रानी की ओर देखते-देखते सीढ़ी से उतर पड़े। रानी सतृष्ण नेत्रों से ताकती रह गयीं।

(२)

चूड़ावतजी घोड़े पर सवार हो रहे हैं। डंके की आवाज घनी होती जा रही है। घोड़े फड़क-फड़ककर अड़ रहे हैं। चूड़ावतजी का प्रशस्त ललाट अभी तक चिन्ता की रेखाओं से कुंचित है। रतनारे लोचन ललाम रण-रस में पगे हुए हैं।

उधर रानी विचार कर रही हैं—"मेरे प्राणेश्वर का मन मुझ में ही यदि लगा रहेगा तो विजय-लक्ष्मी किसी प्रकार उनके गले में जयमाल नहीं डालेगी। उन्हें मेरे सतीत्व पर संकट आने का भय है। कुछ अंशों में यह स्वाभाविक भी है।"

इसी विचार-तरंग में रानी डूबती-उतराती हैं। तब तक चूड़ावतजी का अंतिम संवाद लेकर आया हुआ एक प्रिय सेवक विनम्र भाव से कह उठता है,—"चूड़ावतजी चिह्न चाहते हैं—दृढ़ आशा और अटल विश्वास का। सन्तोष होने योग्य कोई अपनी प्यारी वस्तु दीजिए। उन्होंने कहा है कि, 'तुम्हारी ही आत्मा हमारे शरीर में बैठकर इसे रणभूमि की ओर लिये जा रही है। हम अपनी आत्मा तुम्हारे शरीर में छोड़कर जा रहे हैं।"

स्नेह-सूचक संवाद सुनकर रानी अपने मन में विचार रही हैं,—"प्राणेश्वर का ध्यान जब तक इस तुच्छ शरीर की ओर लगा रहेगा तब तक निश्चय ही वे कृतकार्य नहीं होंगे।" इतना सोचकर बोलीं, "अच्छा खड़ा रह, मेरा सिर लिए जा।"

जब तक सेवक 'हाँ! हाँ!' कहकर चिल्ला उठता है, तब तक दाहिने हाथ में नंगी तलवार और बायें हाथ में लच्छेदार केशोंवाली मुँड लिए हुए रानी का धड़, विलास-मन्दिर के संगमर्मरी फर्श को सती-रक्त से सींच-कर पवित्र करता हुआ, धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा।

बेचारे भय-चकित सेवक ने यह 'दृढ़ आशा और अटल विश्वास का चिह्न' काँपते हुए हाथों से ले जाकर चूड़ावतजी को दे दिया। चूड़ावतजी प्रेम से पागल हो उठे। वे अपूर्व आनन्द में मस्त होकर ऐसे फूल गये कि कवच की कड़ियाँ धड़ाधड़ कड़क उठीं।

सुगन्धों से सींचे हुए मुलायम बालों के गुच्छों को दो हिस्से में चीर-कर चूड़ावतजी ने, उस सौभाग्य-सिन्दूर से भरे हुए, सुंदर शीश को गले में लटका लिया। मालूम हुआ, मानो स्वयं भगवान् रुद्रदेव भीषण भेष धारण कर शत्रु का नाश करने जा रहे हैं। सबको भ्रम हो उठा कि गले में काले नाग लिपट रहे हैं। या लम्बी-लम्बी सटाकार लटें हैं। अटारियों पर से सुन्दरियों ने भर-भर अंजली फूलों की वर्षा की। मानो स्वर्ग की मानिनी अप्सराओं ने पुष्पवृष्टि की। वाजे-गाजे के शब्दों के साथ घहराता हुआ आकाश फाड़नेवाला, एक गम्भीर स्वर में चारों ओर से गूँज उठा—

"धन्य मुंडमाल ! ! !"

———

पं० विनोदशंकर व्यास

(जन्म-संवत् १९५७ वि०)

कहानी-लेखक और उपन्यासकार

नकी स्कूली शिक्षा इन्ट्रेन्स तक भी पूरी नहीं मिल सकी। स्कूल की पढ़ाई में इनका चित्त न लगता था। स्कूली समय और किताबों के बंधेज में रहना इनकी प्रकृति ने स्वीकार न किया। इनके कुटुम्बी, इसी कारण इनकी ओर से विरक्त तथा अप्रसन्न रहते थे। पर कुछ समय के उपरान्त, जब व्यासजी ने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर, अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया तब इनके सब मित्र और कुटुम्बी आश्चर्य में पड़ गए। व्यासजी की कहानियाँ भावप्रधान होती हैं। उनके करुण चित्र बड़े ही मर्मस्पर्शी होते हैं। यथार्थ-वादी प्रवृत्ति भी उनकी कहानियों में देखी जाती है। उनकी भाषा-शैली सरल, पर बड़ी चोट करनेवाली होती है। यहाँ हम उनकी 'विधाता' कहानी प्रकाशित करते हैं, जो पहले 'त्यागभूमि' में निकली थी।

विधाता

"चीनी के खिलौने, पैसे में दो। खेल लो, खिला लो, टूट जाय तो खा लो—पैसे में दो।" सुरीली आवाज में कहता हुआ खिलौने वाला एक छोटी-सी घंटी बजा रहा था।

उसकी आवाज सुनते ही त्रिवेणी बोल उठी—

"माँ, पैसा दो, खिलौना लूँगी।"

"आज पैसा नहीं है, बेटी।"

"एक पैसा माँ, हाथ जोड़ती हूँ।"

"नहीं है त्रिवेणी, दूसरे दिन ले लेना।"

त्रिवेणी के मुख पर सन्तोष की झलक दिखलाई दी। उसने खिड़की से पुकारकर कहा—"ऐ खिलौनेवाले, आज पैसा नहीं है, कल आना।"

"चुप रह, ऐसी बातें भी कहीं कहनी होती हैं?" उसकी माँ ने भुन-भुनाते हुए कहा।

तीन वर्ष की त्रिवेणी की समझ में न आया। किन्तु उसकी माँ अपने जीवन के अभाव का पर्दा दुनिया के सामने खोलने से हिचकती थी। कारण, ऐसा सूखा विषय केवल लोगों के हँसने के लिये ही होता है।

और सचमुच—वह खिलौनावाला मुस्कुराता हुआ, अपनी घंटी बजाकर, चला गया।

संध्या हो चली थी!

लज्जावती रसोई-घर में भोजन बना रही थी। दफ्तर से उसके पति के लौटने का समय था। आज घर में कोई तरकारी न थी, पैसे भी न थे। विजयकृष्ण को सूखा भोजन ही मिलेगा। लज्जा रोटी बना रही थी और त्रिवेणी अपने बाबूजी की प्रतीक्षा कर रही थी।

"माँ, बड़ी तेज भूख लगी है।" कातरवाणी में त्रिवेणी ने कहा।

"बाबूजी को आने दो, उन्हीं के साथ भोजन करना, अब आते ही होंगे।" लज्जा ने समझाते हुए कहा। कारण एक ही थाली में त्रिवेणी

और विजयकृष्ण साथ बैठकर नित्य भोजन करते थे और उन लोगों के भोजन कर लेने पर, उसी थाली में लज्जावती अपने टुकड़ों पर जीनेवाले पेट की ज्वाला को शान्त करती थी। जूठन ही उसका सोहाग था।

लज्जावती ने दीपक जलाया, त्रिवेणी ने आँख बन्द कर, दीपक को नमस्कार किया। क्योंकि उसकी माता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करना सिखाया था।

द्वार पर खटका हुआ। विजय दिन-भर का थका लौटा था। त्रिवेणी ने उछलते हुए कहा—"माँ, बाबूजी आ गये।"

विजय कमरे के कोने में अपना पुराना छाता रखकर खूँटी पर कुर्त्ता और टोपी टाँग रहा था।

लज्जा ने पूछा—"महीने का वेतन आज मिला न ?"

"नहीं मिला, कल बँटेगा। साहब ने बिल पास कर दिया है।" हताश स्वर में विजयकृष्ण ने कहा।

लज्जावती चिन्तित भाव से थाली परोसने लगी। भोजन करते समय, सूखी रोटी और दाल की कटोरी की ओर देखकर विजय न जाने क्या सोच रहा था। सोचने दो क्योंकि, चिन्ता ही दरिद्रों का जीवन है और आशा उनका प्राण !

* * * *

दिन कट रहे थे।

रात्रि का समय था। त्रिवेणी सो गई थी, लज्जा बैठी थी।

"देखता हूँ इस नौकरी का कोई ठिकाना नहीं।" गम्भीर आकृति बनाते हुए विजयकृष्ण ने कहा।

"क्यों ! क्या कोई नई बात है ?" लज्जावती ने अपनी झुकी हुई आँखें ऊपर उठाकर एक बार विजय की ओर देखते हुए पूछा।

"बड़ा साहब, मुझसे अप्रसन्न रहता है। मेरे प्रति उसकी आँखें सदैव चढ़ी रहती हैं।"

"किसलिए ?"

"हो सकता है, मेरी निरीहता ही उसका कारण हो।"

लज्जा चुप थी।

"पन्द्रह रुपये मासिक पर दिन-भर परिश्रम करना पड़ता है। इतने पर भी............।"

"ओह, बड़ा भयानक समय आ गया है!" लज्जावती ने दुःख की एक लम्बी साँस फेंकते हुए कहा।

"मकानवाले का दो मास का किराया बाकी है, इस बार वह नहीं मानेगा।"

"इस वार न मिलने से वह बड़ी आफत मचायेगा।" लज्जा ने भयभीत होकर कहा।

"क्या करूँ जान देकर भी इस जीवन से छुटकारा होता...।"

"ऐसा सोचना व्यर्थ है। बबड़ाने से क्या लाभ? कभी दिन फिरेंगे ही।"

"कल रविवार है, छुट्टी का दिन है, एक जगह दूकान पर चिट्ठी-पत्री लिखने का काम है। पाँच रुपये महीना देने को कहता था। घंटे-दो घंटे उसका काम करना पड़ेगा। मैं आठ माँगता था। अब सोचता हूँ कल उससे मिलकर स्वीकार कर लूँ। दफ्तर से लौटने पर उसके यहाँ जाया करूँगा," कहते हुए विजयकृष्ण के हृदय में उत्साह की एक हल्की रेखा दौड़ पड़ी।

"जैसा ठीक समझो।" कहकर लज्जा विचार में पड़ गई। वह जानती थी कि विजय का स्वास्थ्य परिश्रम करने से दिन-पर-दिन खराब होता जा रहा है।

मगर रोटी का प्रश्न था!

* * * *

दिन, सप्ताह और महीने उलझते चले गये।

विजय प्रतिदिन दफ्तर जाता। वह किसी से बहुत कम बोलता। उसकी इस नीरसता पर प्रायः दफ्तर के और कर्मचारी उससे व्यंग करते।

उसका पीला चेहरा और धँसी हुई आँखें लोगों को हास्य करने के लिए उत्साहित करतीं थीं। लेकिन वह चुपचाप ऐसी बातों को अनसुनी कर जाता। कभी उत्तर न देता। इस पर भी सब उससे असन्तुष्ट रहते थे।

विजय के जीवन में आज एक अनहोनी घटना हुई। कुछ समझ न

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

(जन्म-संवत् १९५८ वि०)

उपन्यासकार, कहानी-लेखक और कवि

मिर्जापुर जिले का चुनार नामक स्थान आपकी जन्मभूमि है। इनकी स्कूली पढ़ाई अधूरी रही। प्रारंभ से ही ये बड़े मनस्वी थे। असहयोग आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप वे राजनीतिक क्षेत्र में आ गए। उग्रजी की राजनीतिक कहानियाँ भावपूर्ण और सुन्दर हुई हैं। उनकी अपनी भाषा-शैली, उनका अपना रचना-सौन्दर्य है। यहाँ हम उनकी 'उसकी माँ' शीर्षक कहानी प्रकाशित करते हैं, जो पहले पहल 'प्रताप' पत्र में निकली थी:

उसकी माँ...

(१)

दोपहर को जरा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में, खड़ा-खड़ा, धीरे-धीरे सिगार पी रहा था और बड़े-बड़े अलमारों में सजे पुस्तकालय की ओर निहार रहा था। किसी महान लेखक की कोई महान कृति उनमें से निकालकर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान-ही-महान नजर आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो; कहीं मेजिनी, कहीं निदशे, कहीं शेक्सपियर, कहीं टॉल्सटाय, कहीं ह्यूगो—मुपासाँ, कहीं डिकिन्स, स्पेन्सर मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ! उफ! इधर-से-उधर तक एक से एक महान ही तो थे। आखिर मैं किसके साथ चन्द मिनट मन बहलाव करूँ यह निश्चित ही न हो सका। महानों के नाम ही पढ़ते-पढ़ते परेशान-सा हो गया।

इतने में मोटर का भों-भों सुनाई पड़ा। खिड़की से झाँका तो सुर्मई रंग की कोई 'फिएट' गाड़ी दिखाई पड़ी। मैं सोचने लगा—शायद कोई मित्र पधारे हैं, अच्छा ही है। महानों से जान बची।

जब नौकर ने सलाम कर आनेवाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घबराया। उस पर शहर के पुलिस सुपरिंटेंडेंट का नाम छपा था। ऐसे बे-वक्त यह कैसे आये?

पुलिस-पति भीतर आये। मैंने, हाथ मिलाकर एक चक्कर खानेवाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया। वह व्यापारिक मुस्कराहट से लैस होकर बोले—

"इस अचानक आगमन के लिये आप मुझे क्षमा करें।"

"आज्ञा हो।" मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी निकाली, डायरी से एक तस्वीर—"देखिये इसे। जरा बताइये तो आप पहचानते हैं, इसको?"

"हाँ, पहचानता तो हूँ।" जरा सहमते हुए मैंने बताया।

"इसके बारे में मुझे आपसे कुछ पूछना है।"

"पूछिये।"

"इसका नाम क्या है?"

"'लाल'। मैं इसी नाम से बचपन ही से इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।"

"कहाँ रहता है यह?" सुपरिंटेंडेंट ने पुलिस की धूर्त-दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

"मेरे बँगले के ठीक सामने, एक दो मंजिला कच्चा-पक्का घर है, उसी में वह रहता है। वह है और उसकी बूढ़ी माँ।"

"बूढ़ी का नाम क्या है?"

"जानकी।"

"और कोई नहीं है क्या, इसके परिवार में? दोनों का पालन-पोषण कौन करता है?"

"सात-आठ वर्ष हुए, लाल के पिता का देहान्त हो गया। अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा बराबर मेरी जमीन्दारी का मुख्य मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ था। वही मेरे पास कुछ-हजार रुपये जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खरचा-वरचा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है। जानकी को आशा है, वह साल-दो-साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा मगर,—क्षमा कीजिये, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप उसके बारे में क्यों इतनी पूछताछ कर रहे हैं?"

"यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिए आज मैंने आपको इतनी तकलीफ दी है।"

"अजी, इसमें तकलीफ की क्या बात है। हम तो सात पुश्त से सरकार के फरमाबरदार हैं। और कुछ, आज्ञा...।"

"एक बात और", [illegible] ने गम्भीरता से, धीरे से कहा—"मैं मित्रता से आपसे निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से जरा सावधान और दूर रहें। फिलहाल इसे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं।"

(२)

"लाल की माँ!" एक दिन जानकी को बुलाकर मैंने समझाया—"तुम्हारा लाल क्या पाजीपना करता है? तुम उसे केवल प्यार ही करती हो न? हूँ; भोगोगी।'

"क्या है बाबू?" उसने कहा—"लाल क्या करता है? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।"

"बिना किये ही तो सरकार किसी के पीछे पड़ती नहीं। हाँ, लाल की माँ बड़ी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार यह है। जरूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।"

"माँ! माँ!!" पुकारता हुआ उसी समय, लाल भी आया लम्बा, सुडौल, सुन्दर, तेजस्वी।

"माँ!" उसने मुझे नमस्कार कर जानकी से कहा—"तू यहाँ भाग आयी है। चल तो, मेरे कई सहपाठी वहाँ खड़े हैं। उन्हें चटपट कुछ जलपान करा दे। फिर हम घूमने जायँगे।"

"अरे!" जानकी के चेहरे की झुर्रियाँ चमकने लगीं, काँपने लगीं, उसे देखकर—"तू आ गया, लाल! चलती हूँ भैये। पर देख तो, तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपना करता है, बेटा?"

"क्या है चाचा जी? उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा—"मैंने क्या अपराध किया है?"

"मैं तुमसे नाराज हूँ लाल!" मैंने गम्भीर स्वर में कहा।

"क्यों चाचा जी?"

"तुम बहुत बुरा करते हो, जो सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करने-वालों के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ; इसके चेहरे का रंग उड़ गया। यह सोच कर कि, यह खबर मुझे कैसे मिली!"

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग जरा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

"आपने गलत सुना, चाचाजी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं जरूरत-बेजरूरत जिस तिस के आगे उबल अवश्य उठता हूँ, देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ, इस पशुहृदय परतन्त्रता पर।"

"तुम्हारी ही बात सही, तुम षड्यन्त्र में नहीं, विद्रोह में नहीं, पर यह बकबक क्यों? इससे फायदा? तुम्हारी इस बक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हारा काम पढ़ना है—पढ़ो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना।"

उसने नम्रता से कहा—"चाचाजी, क्षमा कीजिये। इस विषय में मैं आपसे विवाद करना नहीं चाहता।"

"चाहना होगा, विवाद करना होगा। मैं केवल चाचा नहीं तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखों के सामने रामनाथ नाचने लगते लगते हैं। तुम्हारी बूढ़ी माँ, घूमने लगती हैं। भला मैं तुम्हें बे-हाथ होने दे सकता हूँ। इस भरोसे न रहना।"

"इस पराधीनता के विवाद में, चाचाजी, मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर राजभक्त, मैं कट्टर राजविद्रोही। आप पहली बात को उचित समझते हैं, कुछ कारणों से, मैं दूसरी को, दूसरे कारणों से। आप अपना पथ छोड़ नहीं सकते—अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिये। मैं अपना भी नहीं छोड़ सकता।"

"तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं? सुनूँ भी जरा मैं भी जान लूँ कि, अबके लड़के, कालेज की गर्दन तक पहुँचते-पहुँचते, कैसे-कैसे हवाई किले उठाने के सपने देखने लगते हैं। जरा मैं भी सुनूँ—बेटा!"

"मेरी कल्पना यह है कि, जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसी अन्य व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो—उसका सर्वनाश हो जाय।"

जानकी उठकर बाहर चली।—"अरे, तू तो जमकर चाचा से जूझने लगा। वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाजे पर खड़े होंगे। लड़ तू, मैं जाती हूँ" उसने मुझसे कहा—"समझा दो बाबू मैं तो आप ही कुछ नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी।" उसने फिर लाल की ओर देखा—"चाचा जो कहें, मान जा बेटा। यह तेरे भले ही की कहेंगे।"

वह बेचारी, कमर झुकाये उस साठ बरस की वय में भी घूँघट सँभाले, चली गयी। उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गम्भीरता नहीं समझी।

"मेरी कल्पना यह है कि..." उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा—"ऐसे दुष्ट, नाशक, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो।"

"तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं; उनसे, जिनसे तुम पंजा लेने जा रहे हो। चर्रर-मर्रर हो उठेंगे। नष्ट हो जायेंगे।"

"चाचा जी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है। जो सँवारा गया है, वह बिगड़ेगा ही। हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिए। कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान् की सहस्र भुजाओं की सखी हैं।"

"तो, तुम क्या करना चाहते हो?"

"जो भी मुझसे हो सकेगा करूँगा?"

"षड्यन्त्र...?"

"जरूरत पड़ी तो जरूर...।"

"विद्रोह...?"

"हाँ, अवश्य!"

"हत्या....?"

"हाँ—हाँ—हाँ।"

"बेटा, तुम्हारा माथा, न जाने कौन किताब पढ़ते-पढ़ते बिगड़ रहा है। सावधान!"

(३)

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ, एक दिन, बैठी हुई बातें कर रही थीं कि, मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिये, कई दिनों से, मैं उसकी तलाश में था।

"क्यों लाल की माँ! लाल के साथ किसके लड़के आते हैं, तुम्हारे घर में?"

"मैं क्या जानूँ बाबू" उसने सरलता से कहा—" मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह प्यारे मुझे दीखते हैं। सब ला-पर्वाह। वे इतना हँसते, गाते और हो-हल्ला मचाते हैं कि मैं मुग्ध हो जाती हूँ।"

मैंने एक ठंढी साँस ली—"हूँ, ठीक कहती हो। वे बातें कैसी करते हैं? कुछ समझ पाती हो?"

"बाबू वे लाल की बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ, तब वे, बड़े प्रेम से, मुझे 'माँ' कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानो वे मेरे ही बच्चे हैं।"

"हूँ..." मैंने फिर साँस ली।

"एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बली दीखता है। लाल कहता था, वह डंडा लड़ने में, दौड़ने में, घूसेबाजी में, खाने में, छेड़खानी करने और हो-हो हा-हा कर, हँसने में समूचे कालेज में फर्द है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी मेरे मुँह की ओर देखकर कहा—माँ! तू तो ठीक भारत-माता-सी लगती है। तू बूढ़ी, वह बूढ़ी। उसका हिमालय उजला है, तेरे केश। हाँ, मैं नकशे से साबित करता हूँ—तू भारत-माता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक-विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्याकुमारी तथा छोटी-बड़ी झुर्रियाँ-रेखाएँ भिन्न-भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं। जरा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे बाँएँ कन्धे पर लहरा दूँ। वह वर्मा बन जायगा। बिना उसके भारत-माता का श्रृंगार शुद्ध न होगा।"

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्गद हो उठी "बाबू ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और उसने मुझे पकड़, मेरे बालों को बाहर कर अपना ब्रह्मा तैयार कर लिया। कहने लगा—देख, तेरा यह दाहिना कान 'कच्छ की खाड़ी है—बम्बई के आगेवाली; और यह बाँयाँ बंगाल की खाड़ी। माँ! तू सीधा मुँह करके जरा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्ढी के नीचे, उससे दो अंगुल के फासले पर, हाथ जोड़कर घुटनों पर, बैठता हूँ। दाढ़ी तेरी कन्याकुमारी—हा हा हा हा!—और मेरे जुड़े, जरा तिरछे, हाथ सिलोन—लंका!—हा हा हा हा!!—बोल, भारत-माता की जय।

"सब लड़के ठहाका लगाकर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, मेरे पावों के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की-सी हँसनेवालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, वे सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ'—गाकर—कहते हैं।"

उसकी सरलता मेरी आँखों में आँसू बनकर छा गयी। मैंने पूछा—"लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोला, गोली या बन्दूक की?"

"अरे बाबू' उसने मुस्कराकर कहा—वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोड़े ही होता है। सब जवान हैं, लापर्वाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलों-सी बातें करते हैं। महीना भर पहले एक दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनका पागलपन सुनने के लोभ से मैं दरवाजे से सट और छिपकर खड़ी हो जाती हूँ।

"न जाने कहाँ लड़कों को सरकार पकड़ रही है। मालूम नहीं, पकड़ती भी है या वे यों ही गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे वही बक रहे थे। कहते थे—पुलिसवाले केवल सन्देह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलिस की नीचता है। ऐसी नीच शासन-प्रणाली को स्वीकार करना, अपने धर्म को, कर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है—धीरे-धीरे घुलाना, मिटाना है।"

एक ने, उत्तेजित भाव से, कहा—'अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे; जो बरवस राजभक्त बनाये रखने के लिये, हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाये, अड़े और खड़े हैं? उफ! इस देश के लोगों की हिये की आँखें मुँद गयी हैं, तभी इतने जुल्मों पर भी आदमी, आदमी से डरता है। ये लोग शरीर को रक्षा के लिये अपनी-अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो इस परतन्त्रवाद का!

"दूसरे ने कहा—लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिये इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनों को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर ओर स्वाधीन न हो सकें, इसलिये अपमानजनक और मनुष्यता-नीति-मर्दक कानून गढ़े हैं। गरीबों को चूसकर, सेना के नाम पर, पाले हुए पशुओं को शराब से, कबाब से, मोटा-ताजा रखती है, यह सरकार। धीरे-धीरे जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है; यह लूटक शासन-प्रणाली। नाश हो इस प्रणाली का! इस प्रणाली की तस्वीर—सरकार का!!

"तीसरा, वही बँगड़, बोला—सबसे बुरी बात यह है, जो सरकार से रोब से—'सत्तावनी' रोब से—धाक से, धाँधली से, धुआँ से; हम पर शासन करती है। यह, आँखें खोलते ही, कुचल-कुचल कर, हमें दब्बू कायर, हतवीर्य, बनाती है। और किस लिये जरा सोचो तो मुट्ठी भर मनुष्यों को अरुण, वरुण और कुबेर बनाए रखने के लिये मुट्ठी-भर मनचले सारे संसार की मनुष्यता की मिट्टी पलीत करें, परमात्मा-प्रदत्त स्वाधीनता का संहार करें—छि:! नाश हो ऐसे मनचलों का!

"ऐसे ही अंट-संट ये बातूनी बका करते हैं; बाबू। जभी चार छोकरे जुड़े तभी यही चर्चा। लाल के साथियों का मिजाज भी, उसी-सा, अल्हड़-बिल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है। ये लड़के ज्यों-ज्यों पढ़ते जा रहे हैं, त्यों-त्यों बकवक में बढ़ते भी जा रहे हैं।"

"यह बुरा है लाल की माँ!" मैंने गहरी साँस ली।

(४)

जमीन्दारी के कुछ जरूरी काम से, चार-पाँच दिनों के लिये, बाहर गया था। लौटने पर, बँगले में घुसने के पूर्व लाल के दरवाजे पर जो नजर पड़ी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नजर आया। जैसे घर उदास हो, रोता हो।

भीतर आने पर, मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खड़ी हो गयी।

"तुमने सुना ?"

"नहीं तो, कौन-सी बात ?"

"लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पड़ी है।" मैं कुछ-कुछ समझ गया, फिर विस्तृत विवरण जानने को उत्सुक हो उठा—"क्या हुआ ? जरा साफ-साफ बताओ।"

"वही हुआ, जिसका तुम्हें भय था। कल पुलिस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था। बारह घंटे तक तलाशी हुई ! लाल, उसके बारह-पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं। सभी लड़कों के घरों की तलाशी हुई है। सब के घर से भयानक-भयानक चीजें निकली हैं।"

"लाल के यहाँ...?"

उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत से कारतूस और पत्र पाये गये ह। सुना है, उन पर हत्या, षड्यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा. आदि अपराध लगाये गये हैं।"

"हूँ" मैंने ठंढी साँस ली—"मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि, यह लौंडा धोका देगा। अब वह बूढ़ी बेचारी मरी। वह कहाँ है ?
तलाशी के बाद तुम्हारे पास आयी थी ?"

"जानकी मेरे पास कहाँ आयी। बुलवाने पर भी कल नकार गयी। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुआ तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो वे बिल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जायँगे। जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेंगे मगर मेरे जीतेजी यह नहीं होने का।"

"वह पागल है, भोगेगी।" मैं दुःख से टूटकर एक चारपाई पर भहरा पड़ा। मुझे लाल के कर्मों पर घोर खेद हुआ।

इसके बाद, प्रायः एक वर्ष तक वह मुकदमा, चला। कोई भी, अदालत के कागज उलटकर देख सकता है। सी० आई० डी० ने—और उसके मुख सरकारी वकील ने—उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोषारोप किये। उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापित की थीं, उनके खर्चे और प्रचार के लिये डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मारकर, शस्त्र एकत्र किये थे, पलटन में उन्होंने बगावत फैलाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने न जाने कहाँ, न जाने किस, पुलिस के दारोगा को मारा था; और न जाने किस पुलिस सुपरिंटेंडेंट को! ये सभी बातें सरकार की ओर से प्रमाणित की गयीं।

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था? प्रायः कोई नहीं। सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिल रहा था, फिर एक बेचारा मिला भी; तो, 'नहीं' का भाई। हाँ उनकी पैरवी में सबसे अधिक परीशान वह बूढ़ी रहा करती। वह सुबह शाम उन बच्चों को—लोटा, थाली, जेवर आदि बेंच-बेंच कर भोजन पहुँचाती। फिर वकीलों के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती कहती—

"सब झूठ है। न जाने कहाँ से पुलिसवालों ने ऐसी-ऐसी चीजें हमारे घरों से पैदा कर दी हैं। वे लड़के केवल बातूनी हैं—हाँ, मैं भगवान का चरण छूकर कह सकती हूँ। तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू! भला वे फूल से बच्चे हत्या कर सकते हैं।"

उसका तन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष-सी हो गयी, आँखें निस्तेज; मगर उन बच्चों के लिये दौड़ना, हाय-हाय करना, उसने बन्द न किया। कभी-कभी सरकारी नौकर, पुलिस या वार्डर, उस पर झुँझलाकर, उसे झिड़क देते, धकिया देते। तब वह खड़ी हो जाती, छड़ी के सहारे कमर सीधी कर—"अरे, अरे! तुम कैसे जवान हो, कैसे आदमी

हो। मैं तो उन भोले बच्चों के लिये दौड़ती-मरती हूँ और तुम मुझे धक्के दे रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, भैया?"

उसको अन्त तक यही विश्वास रहा कि, यह सब पुलिस की चालबाजी है। अदालत में जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जायगा, तब वे बच्चे जरूर बे-दाग छूट जायंगे। वे फिर उसके घर में लाल के साथ, आवेंगे। हा हा-हो हो करेंगे। उसे 'माँ' कहकर पुकारेंगे।

मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गयी, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी लाल को, उस बँगड़ लठैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सजाएँ दीं।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते, मस्ती से झूमते, बाहर आये। सबसे पहले उस बँगड़ की नजर उस पर पड़ी—

"माँ! वह मुस्कराया—,अरे, हमें तो हलुवा खिला-खिला कर तूने गधे-सा तगड़ा कर दिया है ऐसा कि, फाँसी की रस्सी टूट जाय और हम अमर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूखकर काँटा हो गयी है! क्यों पगली—तेरे लिये घर में खाना नहीं है क्या?—

"माँ!" उसके लाल ने कहा—"तू भी जल्द वहीं आना, जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहाँ से थोड़ी देर का रास्ता है माँ! एक साँस में पहुँचेगी। वहीं, हम स्वतन्त्रता से मिलेंगे। तेरी गोद में खेलेंगे। तुझे कन्धे पर उठाकर इधर-से-उधर दौड़ते फिरेंगे। समझती है? वहाँ बड़ा आनन्द है।"

"आवेगी न माँ?" बँगड़ ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" लाल ने पूछा।

"आवेगी न माँ?" फाँसी-दंड प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने भी पूछा।

और वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही—"तुम कहाँ जाओगे पगले?"

जब से लाल और उसके साथी पकड़ गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने में डरता था। उसे रास्ते

में देखकर जान-पहचानी बगलें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम था उस बेचारी बूढ़ी पर; मगर, मैं भी बराबर दूर ही रहा। कौन अपनी गर्दन मुसीबत में डालता, विद्रोही की माँ से सम्बन्ध रखकर?

उस दिन, ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिये पुस्तकालयवाले कमरे में गया। वहीं किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति क्षण भर देखने के लालच से। मैंने मेजिनी की एक जिल्द निकाल कर उसे खोला। उसके पहले ही पन्ने पर पेंसिल की लिखावट देखकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था। मुझे याद पड़ गयी। तीन बरस पूर्व, उस पुस्तक को मुझसे माँगकर, उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ, लड़के के लिये। उसके वफादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तस्वीर मेरी आँखों के आगे नाच गयी। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धान्तों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसकी एक ठेस मुझे भी, उसके हस्ताक्षर को देखते ही, लगी। मेरे मुँह से एक गम्भीर, लाचार, दुर्बल साँस निकलकर रह गयी।

पर, दूसरे ही क्षण पुलिस सुपरिंटेंडेंट का ध्यान आया। उसकी भूरी, सुहावनी, अमानवी आँखें मेरी, आप-सुखी तो जग-सुखी आँखों में वैसी ही चमक गयीं, जैसे ऊजड़ गाँव के सिवान में कभी-कभी भुतही चिनगारी चमक जाया करती है। उसके रूखे फौलादी हाथ—जिनमें लाल की तस्वीर थी—मानो मेरी गर्दन चापने लगे। मैं मेज पर से 'इरेजर' (रबर) उठाकर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

उसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल की माँ वहाँ आयी। उसके हाथ में एक पत्र था।

"अरे!" मैं अपने को रोक न सका—"लाल की माँ! तुम तो बिलकुल पीली पड़ गई हो। तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानों कुछ देख ही नहीं रही हो। यह हाथ में क्या है?"

उसने, चुपचाप, पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा उसपर...जेल

की मुहर थी। सजा सुनने के बाद वह वहीं भेज दिया गया था, यह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकालकर पढ़ने लगा। वह उसकी अन्तिम चिट्ठी थी मैंने कलेजा रूखाकर, उसे जोर से पढ़ दिया।

"माँ!"

जिस दिन तुम्हें यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सबेरे मैं, बाल अरुण के किरण-रथ पर चढ़कर, उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अन्त समय, तुमसे मिल सकता था; मगर इससे क्या फायदा? मुझे विश्वास है, तुम मेरी जन्म-जन्मान्तर की जननी हो, रहोगी! मैं तुमसे दूर कहाँ जा सकता हूँ? माँ! जब तक पवन साँस लेता है, सूर्य चमकता है, समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणामयी गोद से दूर खींच सकता है?

दिवाकर थमा रहेगा; अरुण, रथ लिए जमा रहेगा; मैं, बँगड़, वह-वह, सभी तेरे इन्तजार में रहेंगे।

हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे—हाँ, माँ! तेरा—'लाल'।"

काँपते हाथ से, पढ़ने के बाद, पत्र को मैंने उस भयानक लिफाफे में भर दिया। मेरी पत्नी की विकलता हिचकियों पर चढ़ाकर कमरे को करुणा से कँपाने लगी। मगर वह जानकी ज्यों की त्यों, लकड़ी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आँखों से मेरी ओर देखती रही। मानो वह उस कमरे में थी ही नहीं।

क्षण भर बाद हाथ बढ़ाकर, मौन भाषा में, उसने पत्र माँगा। और फिर, बिना कुछ कहे कमरे के—घर के—फाटक के बाहर हो गयी, डुगुर, डुगुर लाठी टेकती हुई।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं धम से कुर्सी पर गिर पड़ा। माथा चक्कर खाने लगा। उस पाजी लड़के के लिये नहीं, इस सरकार की क्रूरता के लिये भी नहीं—उस बेचारी, भोली बूढ़ी जानकी—लाल की माँ—के लिये। आह! वह कैसी स्तब्ध थी। उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती, तो आँधी आ जाती। समुद्र पाता, तो बौखला उठता।

जब १ का घंटा बजा, मैं जरा सगबगाया। ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानो, हरारत पैदा हो गयी है—माथे में, छाती में, रग-रग में। पत्नी ने आकर कहा—"बैठे ही रहोगे, सोओगे नहीं?" मैंने इशारे से उन्हें जाने को कहा।

फिर, मेजिनी की जिल्द पर नजर गयी। उसके ऊपर पड़े रबर पर भी। फिर अपने सुखों की, जमीन्दारी की, धनिक-जीवन की और उस पुलिस-अधिकारी की निर्दय, नीरस, निस्तार आँखों की स्मृति कलेजे में कम्पन कर गई। फिर, रबर उठाकर, मैंने उस पाजी का पेंसिल-खचित नाम, पुस्तक की छाती पर से, मिटा डालना चाहा।

'माँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ!"

मुझे सुनाई पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिये, दहलते दिल से, खिड़की की ओर बढ़ा, लाल के घर की ओर देखने के लिये। पर, चारों ओर अंधकार था, कुछ नहीं दिखाई पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनाई भी न पड़ा। मैं सोचने लगा, भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज और, अवश्य सुनायी पड़ती। वह कराहनेवाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस तरह नहीं विघियाई थी जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसी को सोचने लगा। वह उस नालायक के लिये क्या नहीं करती थी। खिलौना की तरह, आराध्य की तरह, उसे दुलारती और सँवारती फिरती थी, पर, आह रे छोकरे!...

"माँ ँ ँ ँ ँ ँ ँ!"

फिर वही आवाज! जरूर जानकी रो रही है, वैसे ही जैसे कुर्बानी के पूर्व गाय रोवे। जरूर वही विकल, व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय री माँ अभागिनी वैसे ही पुकार रही है। जैसे वह पाजी गाकर मचलकर, स्वर को खींचकर उसे पुकारता था।

अँधेरा धूमिल हुआ, फीका पड़ा, मिट चला, ऊषा पीली हुई, लाल हुई। अरुण रथ लेकर वहाँ—क्षितिज के उस छोर पर—आकर, पवित्र मन से, खड़ा हो गया। मुझे लाल के पत्र की याद आ गयी।

"माँ ाँ ाँ ाँ ाँ।"

मानो, लाल पुकार रहा था; मानो, जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गा रही थी। मेरी छाती धक्-धक् करने लगी। मैंने नौकर को पुकारकर कहा—

"देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है?"

जब वह लौटकर आया, तब मैं—एक बार पुनः मेज और मेजिन्नी के सामने खड़ा था। हाथ में रबर लिये—उसी—उद्देश्य से। उसने घबड़ाए स्वर में कहा—

"हुजूर, उनकी तो अजीब हालत है। घर में तोला पड़ा है और वह दरवाजे पर पाँव पसारे, हाथ में कोई चिट्ठी लिये, मुँह खोले, मरी बैठी हैं। हाँ, सरकार! विश्वास मानिये, वह मर गयी हैं। साँस बन्द है—आँखें खुलीं।"